काशिका

हिन्दी व्याख्या (प्रथम पाद)

डा० रघुवीर वेदालंकार

काशिका

(हिन्दी व्याख्या)

व्याख्याकार

डा० रघुवीर वेदालंकार

वेद— व्याकरणाचार्य

रामजस महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
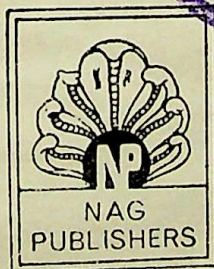
नाग पब्लिशर्स

८ ए/यू० ए० ३ जवाहर नगर, दिल्ली-७

N.P. SERIES XLIII

प्राप्ति स्थान :

(i) नाग पब्लिशर्स
पोस्ट ग्राफिस भवन, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

(ii) डॉ० रघुवीर वेदालंकार
रामजस कॉलेज, मौरिस नगर, दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण : १९७९

मूल्य : पुस्तकालय संस्करण २५.००
विद्यार्थी संस्करण १५.००

मुद्रक :
अमर प्रिंटिंग प्रेस (श्याम प्रिंटिंग ऐजेन्सी),
८/२५ डबल स्टोरी, विजय नगर, दिल्ली-११०००९

काशिकावृत्ति का वैशिष्ट्य

पाणिनीय व्याकरणपरम्परा में पातञ्जलमहाभाष्य के पश्चात् काशिका ही एक ऐसा ग्रन्थरत्न है जिसे हम सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक कह सकते हैं। जयादित्य और वामन, इन दोनों विद्वान् लेखकों ने काशिका के रूप में पाणिनीय व्याकरण-परम्परा की रक्षा अतीत कौशल से की है। काशिकाकार ने पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करते समय पाणिनि से लेकर पतञ्जलि तक फैली अविच्छिन्न व्याकरण-परम्परा के सारभूत तत्त्व को भी काशिका में समाविष्ट कर लिया है। काशिकाकार ने ऐसा करके पाणिनीय व्याकरण का महान् उपकार किया है।

जिस प्रकार पतञ्जलि प्रभृति वैयाकरणों ने पाणिनीय तन्त्र को परिष्कृत एवं परिवर्द्धित करने का प्रयास किया, उसी प्रकार इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए काशिकाकार ने भी उसका परिवर्धन एवं संशोधन किया है। वृत्तिकार होते हुए भी काशिकाकार ने उन शब्दों के समाधान का सफल यत्न किया जो कि पाणिनीय सूत्रों द्वारा असमाधित थे, तथा जिन पर कात्यायन एवं पतञ्जलि का ध्यान भी नहीं गया था। यथा—भुवश्च ३।२।११८ सूत्र पर काशिकाकार कहते हैं 'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः भ्राजिष्णुना लोहित चन्दनेन'। भाष्य में इस विषय में कुछ नहीं कहा गया है। ऐसा अनेक स्थलों पर है। नवीन शब्दों के समाधानार्थ काशिकाकार ने अनेक वार्त्तिकों तथा इष्टियों का निर्माण भी किया है। यथा—१।१।१२ सूत्र पर उन्होंने 'ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्त्तिक लिखा है। भाष्यादि ग्रन्थों में यह वार्त्तिक उपलब्ध नहीं है। नवीन शब्द सिद्धि के लिए ही काशिकाकार ने अनेक स्थानों पर कात्यायन के वार्त्तिकों को स्वीकार न करके पतञ्जलि द्वारा संशोधित वार्त्तिकों को ही स्वीकार किया है तथा स्वयं भी प्राचीन वार्त्तिकों का संशोधन किया है। यही कारण है कि उन्होंने भाष्य के लगभग ४००० वार्त्तिकों में से एक हजार से भी कम वार्त्तिकों को स्वीकार किया है। ऐसा करते समय काशिका में उन्होंने किसी प्रकार की न्यूनता भी नहीं आने दी है। गणपाठ के विषय में भी काशिका का विशेष योगदान है। अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में ही काशिकाकार उसे शुद्धगणा कहकर घोषणा कर रहे हैं कि उन्होंने भ्रष्ट गणपाठ का यत्नपूर्वक संशोधन किया है।

यद्यपि काशिका से पूर्व—यहाँ तक कि भाष्य से भी पूर्व पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तिग्रन्थ बन चुके थे परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि उनमें इष्टि, उपसंख्यान, गणपाठ आदि विषय न थे। इसके अतिरिक्त काशिका की एक अन्य विशेषता इसे अन्य वृत्तियों की अपेक्षा विशेष महत्त्व प्रदान करती है और वह विशेषता यह है कि काशिकाकार ने अपने से पूर्ववर्त्तिनी वृत्तियों, भाष्य, धातुपारायण तथा नामपारायण आदि ग्रन्थों के सम्पूर्ण सार को भी काशिका में समाविष्ट कर लिया है। काशिका के प्रारम्भ में काशिकाकार स्वयं घोषणा कर रहे हैं—

वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः॥

न्यासकार का कथन है कि काशिकाकार ने यह श्लोक पूर्ववृत्तियों की अपेक्षा काशिका का गौरव प्रतिपादन करने के लिए ही लिखा है। न्यासकार का यह भी कहना है कि यहां पर 'सार' शब्द से काशिका की निर्दोषिता सूचित होती है। अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियां भाष्यादि से पूर्ववर्त्तिनी होने के कारण भाष्यादि ग्रन्थों के सार संग्रह रूपी इस विशेषता से सर्वथा शून्य थी। काशिका की यह विशेषता जहाँ उसे अपने से पूर्ववर्त्तिनी वृत्तियों की अपेक्षा वैशिष्ट्य प्रदान कर रही है वहाँ परवर्त्तिनी वृत्तियों की अपेक्षा भी उत्कृष्ट सिद्ध कर देती है। भाषावृत्ति आदि सभी उपलब्ध परवर्त्तिनी वृत्तियों में भाष्यादि ग्रन्थों के सारसंग्रह का यत्न नहीं किया गया है। केवल उदाहरण प्रत्युदाहरण देते हुए सामान्य व्याख्या की गयी है।

अपने से प्राचीन व्याकरण-वाङ्मय को साररूप में संगृहीत करने के साथ काशिकाकार का यह ध्यान भी रहा है कि वह सारभूत तत्त्व संक्षिप्त रूप में काशिका में उपलब्ध हो सके। संक्षेप के साथ काशिकाकार काशिका को किसी दृष्टि से अपूर्ण भी नहीं रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने लिखा है—'व्याकरणस्य शरीरं परिनिष्ठितशास्त्रकार्यमेतावत्' इस पंक्ति द्वारा काशिकाकार घोषणा कर रहे हैं कि व्याकरण की शरीर रूपी इस काशिका में व्याकरण का कार्य समाप्त हो गया है। पाणिनीय सूत्रों को यदि व्याकरण का आत्मा माना जाए तो काशिकाकार काशिका को 'व्याकरणस्य शरीरम्' कह रहे हैं। व्याकरण के आत्मा पाणिनीय सूत्रों को अपने सुसंयत परिमार्जित संक्षिप्त एवं सारग्राही शरीर द्वारा सुरक्षित करने का श्रेय भी काशिका वृत्ति को ही है। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण की जो स्रोतस्विनी अनेक वृत्तियों, वार्त्तिकों तथा भाष्य आदि के माध्यम से विस्तार से बहती चली आ

रही थी, उसे संक्षिप्त एवं साररूप में एक स्थान पर संगृहीत करने के लिए काशिकाकार निश्चय ही श्रेय: के भाजन हैं ।

इसके अतिरिक्त काशिकाकार द्वारा हमें अनेक प्राचीन आचार्यों के मत जानने में भी सहायता मिलती है । काशिकाकार ने लगभग १२५ स्थानों पर केचित्, अन्ये, अपरे, इतरे, आदि पदों द्वारा अन्य आचार्यों का उल्लेख किया है । इनमें से कुछ तो न केवल काशिकाकार से, अपितु पतञ्जलि तथा पाणिनि से भी पूर्ववर्ती हैं तथा पतञ्जलि ने भी उनके विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है । पाणिनि के 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' १।२।५१ सूत्र को ही काशिकाकार ने पूर्वाचार्यों का सिद्ध किया है । पाणिनि ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत अनेक संज्ञाओं को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है । उन्होंने स्वयं उनकी परिभाषाएँ नहीं दी हैं । काशिकाकार ने पाणिनि द्वारा व्यवहृत धातु, काल, उपसर्जन, बहुव्रीहि, द्वन्द्व, अव्ययीभाव, तत्पुरुष, वृद्ध तथा आङ् संज्ञाओं को पूर्वाचार्यों की संज्ञाए सिद्ध किया है तथा इनकी पूर्वाचार्य सम्मत परिभाषाएं भी दी है । अनेक स्थलों पर काशिकाकार ने पूर्वाचार्यों के नाम-निर्देश पूर्वक उनके मत उद्धृत किये हैं । यथा—ऋदुशनस० ७।१।९४ सूत्र पर माध्यन्दिनि तथा व्याघ्रपाद का नाम लिया है । ७।२।१से सूत्र पर संकेत दिया है कि सौनाग आचार्य √शक्लृ से निष्ठा में विकल्प से इडागम करते हैं । ७।२।५८ सूत्र पर काशिकाकार ने पदशेषकार का मत दिलाया है । ७।३।९५ सूत्र का आपिशलों के मत में पाठभेद दिखलाया है । ८।३।४८ सूत्र पर पारायणिकों के मत का उल्लेख किया है । इन सभी सूत्रों पर ये सभी मत भाष्य में भी नहीं दिखलाये गये हैं । इन आचार्यों के अनुसार काशिकाकार ने अनेक सूत्रों का पाठभेद तथा योगविभाग भी दिखलाया है । इससे सूत्रों का प्राचीन स्वरूप जानने में सहायता मिलती है । इसी प्रकार काशिकाकार ने कुछ सूत्रों के दो दो अर्थ किये हैं । इससे उन सूत्रों के प्राचीन अर्थों का पता चलता है ।

उदाहरणों के रूप में भी पाणिनीयपरम्परा में काशिका का विशिष्ट योगदान रहा है । यह योगदान दो रूपों में है । प्रथम यह कि काशिकाकार ने प्राचीन वृत्तियों तथा भाष्य आदि की परम्परा से प्राप्त उदाहरणों को ही काशिका में स्वीकार किया है काशिका के व्याख्याता हरदत्त मिश्र ने काशिका में उद्धृत कुछ उदाहरणों को चिरन्तन प्रयोग कहा है । जैनेन्द्रवृत्ति तथा सिद्धान्त कौमुदी आदि में यह परम्परा विशृङ्खलित एवं उच्छिन्न रूप में पायी जाती है । इन ग्रन्थकारों ने कहीं कहीं पर परम्परागत प्राचीन उदाहरणों को छोड़कर उनके स्थान पर सम्प्रदाय विशेष की भावनाओं से ओतप्रोत उदाहरण रख दिये हैं । यथा—वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः १।३।४८ सूत्र पर

काशिका में 'ऋक्ष्वस्य क्रमते बुद्धिः' 'यजुष्वस्य क्रमते बुद्धिः' उदाहरण दिये हैं। इसके स्थान पर अभयनन्दी महावृत्ति २।२।३४ में क्रमते जैनेन्द्राध्ययनाय' उदाहरण दिया है। 'आङ् मर्यादावचने' १।४।८९ सूत्र पर काशिका में 'आकुमारं यशः पाणिनेः' उदाहरण दिया हैं जो कि पाणिनि का महत्त्व बतला रहा है। अभयनन्दी महावृत्ति १।३।१० में इसे बदल कर 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' कर दिया गया। इसी प्रकार पुरुषोत्तम ने 'उपोऽधि के च' १।४।८७ सूत्र पर काशिका प्रदत्त उदाहरण 'उपशाकटायनं वैयाकरणाः' को बदल कर 'उपगोवर्धनं शाब्दिकाः' कर दिया है। भट्टोजि ने भी इसके स्थान पर अन्य उदाहरण दिया है। काशिका का उदाहरण शाकटायन व्याकरण का महत्त्व बतला रहा है जबकि भाषावृत्ति तथा सिद्धान्त कौमुदी के उदाहरणों में वह परम्परा लुप्त हो गयी।

उदाहरणों के क्षेत्र में काशिकाकार का दूसरा योगदान यह है कि काशिका के अधिकांश उदाहरणों से तात्कालिकी सामाजिक परिस्थितियों पर भी विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है। कहीं काशिका के उदाहरणों से ऐसे संकेत भी प्राप्त होते हैं जो कि भाष्य में उपलब्ध नहीं हैं। यथा 'द्रोणपर्वत०' ४.१.१.३ सूत्र पर काशिकाकार का संकेत है कि महाभारत कालीन द्रोण के अतिरिक्त कोई अनादि द्रोण भी था। काशिकाकार ने ऐसी नवीन जानकारी अनेक स्थानों पर दी है। प्रो० वेल्वल्कर का भी यह विचार है कि काशिका ऐसी जानकारी देती है जिसे हम अन्य किसी स्रोत से प्राप्त नहीं कर सकते। श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा भी काशिकाकार ने अपने योगदान में अभिवृद्धि की है। काशिका में अनेक श्लोक तथा श्लोकवार्त्तिक ऐसे हैं जिनका उल्लेख भाष्य में नहीं पाया जाता। इनमें से कुछ श्लोकों द्वारा प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार काशिकाकार ने काशिका के सूत्रार्थों—उदाहरणों तथा अन्य अनेक प्रकार के मतसंग्रह के माध्यम से नाना वृत्तियों—भाष्य, धातुपारायण तथा नामपारायण आदि के रूप में फैली हुई विस्तृत परम्परा को सुरक्षित करके पाणिनीय परम्परा में विशिष्ट योगदान दिया है। सम्भवतः यही कारण है कि काशिका ने अपने इस वैशिष्ट्य के कारण अपने से प्राचीन एवं अर्वाचीन वृत्तियों को सदैव के लिए पराभूत कर दिया। काशिका के महत्त्व के विषय में चीनी यात्री इत्सिङ् ने लिखा है—पहले समय में अनेक टीकाएँ रची गयी थीं, यह उन सबमें उत्तम है। यह सूत्र का पाठ देती है अनेक प्रकार के अर्थों की बड़ी बारीकी से व्याख्या करती है। यदि चीन के मनुष्य भारत जाएँ तो उनको सबसे पहले इस ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय

जिस प्रकार काशिकाकार ने अपने से पूर्व वैयाकरणों का प्रभाव स्वीकार करते हुए उनकी उपलब्धियों का लाभ काशिका में उठाया, उसी प्रकार काशिका से उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने भी काशिका की उपलब्धियों से अपनी कृतियों को समृद्ध बनाया है । काशिकाकार ने जिन तथ्यों को चन्द्रगोमी आदि पूर्व वैयाकरणों के प्रभाव से स्वीकार किया है, उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने उनमें से अधिकांश को ग्रहण कर लिया है पाणिनीय व्याकरण की प्राचीन परम्परा के संग्राहक सूत्रानुसारी ग्रन्थ के रूप में तो काशिका की प्रतिष्ठा है ही, इसके अतिरिक्त एक और भी पक्ष है जहाँ कि काशिका के महत्त्व को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता, और वह है काशिका का प्रक्रियापक्ष । काशिका यद्यपि प्रक्रिया ग्रन्थ नहीं माना जाता किन्तु प्रक्रिया पक्ष के विषय में काशिकाकार इतने जागरूक रहे हैं कि अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में वे इसे 'व्युत्पन्नरूपसिद्धि:' कह कर इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहे है कि काशिका में व्युत्पन्न—कठिन रूपों की सिद्धि भी दर्शायी गई है । काशिका से उत्तरवर्ती रूपावतार, सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थ लक्ष्यैकचक्षु हैं जबकि काशिका लक्षणैकचक्षु है । काशिका का सम्बन्ध जहाँ एक ओर प्राचीन व्याकरण से है वहाँ दूसरी ओर वह प्रक्रिया ग्रन्थों से भी सम्बन्धित है । एक ओर उसने प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों से कुछ लिया है तो दूसरी ओर प्रक्रिया ग्रन्थों को बहुत कुछ दिया भी है । काशिका को हम प्राचीन व्याकरण की सुविस्तृत नदी का ऐसा सेतु कह सकते हैं जिसके माध्यम से प्रक्रिया ग्रन्थकारों ने उस नदी में यथेष्ट स्नान किया है । सम्भव है कि उन्होंने प्रक्रिया की प्रेरणा भी इसी सेतु के ग्रहण की हो ।

काशिकाकार से परवर्ती पाणिनीय-परम्परानुयायी सभी ग्रन्थकार काशिकावृत्ति के अधमर्ण हैं । यहाँ तक कि इनमें से अनेक लेखकों ने काशिका की पंक्तियों को भी अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है । प्रक्रियाकौमुदीकार ने पदे पदे काशिका का आश्रय लिया है । सूत्रपाठ में मतभेद होने पर प्रक्रिया कौमुदीकार काशिका का अनुसरण करते हैं, भाष्य का नहीं । इसी प्रकार भट्टोजिदीक्षित, पुरुषोत्तमदेव आदि अन्य वैयाकरण भी काशिका के अनु-जीवी हैं ।

पाणिनीय परम्परानुयायी वैयाकरण तो काशिका के ऋणी हैं ही, इनके अतिरिक्त अभयनन्दी, पाल्यकीर्ति, भोज, नारायण भट्ट आदि पाणिनी-येतर परम्परानुयायी वैयाकरणों ने भी काशिका का यथेष्ट उपयोग किया है । प्रतीत होता है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) ने अपने व्याकरण की अमोघवृत्ति टीका काशिका को आदर्श मानकर ही लिखी है । सूत्रों की व्याख्या तथा उदाहरणों में अमोघवृत्ति पर काशिका का प्रभाव स्पष्ट देखा

जा सकता है । जैनेन्द्र व्याकरण की अभयनन्दी वृत्ति भी काशिका से अधिकतर अनुप्राणित रही है । अभयनन्दी वृत्ति ने अनेक उदाहरण तथा श्लोकवार्त्तिक काशिका से ही प्राप्त किये हैं । इसी प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण तथा उसके व्याख्याता नारायण भट्ट ने भी यत्र-तत्र काशिका का प्रभाव स्वीकार किया है ।

उत्तरवर्ती वैयाकरणों में पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर परम्परा से सम्बन्धित शायद ही कोई ऐसा वैयाकरण होगा, जिसने काशिका का आश्रय न लिया हो । इतना होते हुए भी यह खेद का विषय है कि पुरुषोत्तमदेव आदि अपवादों को छोड़कर किसी ने काशिकाकार के प्रति आभार तक भी प्रकट नहीं किया । भट्टोजि दीक्षित आदि कुछ वैयाकरण काशिका की उपलब्धियों को तो चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं किन्तु कहीं पर मत-भिन्न होने पर काशिका का खण्डन बहुत प्रबल शब्दों में करते हैं । इसी प्रकार प्रक्रिया-कौमुदीकार काशिका से ८० प्रतिशत ऋण लेने के बाद भी काशिका-कार का नामोल्लेख तक नहीं करते । यह इन वैयाकरणों के कृतज्ञता अभाव का परिचायक है ।

काशिका के अध्येता के सामने एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि काशिका जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सिद्धान्तकौमुदी आदि नवीन ग्रन्थों के सामने प्रचार मन्द क्यों पड़ गया ? काशिका से उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा काशिका को समुचित आदर प्रदान न करना इसमें कारण रहा है । इसका दूसरा प्रमुख कारण यह है कि रूपावतार, प्रक्रिया कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों के सामने सूत्रानुसारी ग्रन्थों का प्रचार मन्द पड़ने लगा था । और तो क्या, स्वयं भट्टोजि का सूत्रानुसारी ग्रन्थ शब्दकौस्तुभ भी आज सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध भी नहीं है । इसका एक कारण यह भी है कि जनप्रवृत्ति सदैव कठिनता से सरलता की ओर उन्मुख रही है । काशिका में निहित रहस्य तथा काशिका की भाषा निश्चय ही प्रौढता को लिए हुए है । यही कारण है कि रूपावतार तथा प्रक्रिया कौमुदी का उदय हुआ, किन्तु केवल सरलता ही अपेक्षित न थी । इसके साथ व्याकरण की पूरी जानकारी भी अपेक्षित थी अतः सिद्धान्त कौमुदी का जन्म हुआ । फलस्वरूप काशिका का प्रचार मन्द हो गया । इसका एक सशक्त कारण यह भी है कि काशिका से उत्तरवर्त्ती वैयाकरण 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' के अनुगामी बन गये जबकि काशिककार ने इसे स्वीकार नहीं किया । अन्तिम मुनि पतञ्जलि के मत को अनेक स्थानों पर स्वीकार न करने के कारण भी काशिका उपेक्षा एवं आलोचना का पात्र बनी ।

काशिका का नामकरण एवं रचना स्थान

काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४.२.११६ सूत्र द्वारा काशि शब्द से ञिठ् प्रत्यय करने पर काशिका शब्द निष्पन्न होता है। यह सूत्र भव (होना) अधिकार में है। सम्भवतः हरदत्त मिश्र ने इसी आधार पर काशिका की रचना काशी में स्वीकार करते हुए लिखा है—'काशिकेति देशतोऽभिधानम्। काशिषु भवा'। हरदत्त का अनुगमन करते हुए श्री प्रो० विन्टरनित्स, प्रो० श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती, प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, पं० युधिष्ठिर मीमांसक आदि विद्वानों ने भी काशिका की रचना वाराणसी में स्वीकार की है। इस प्रकार काशी तथा काशिका में श्रुतिसाम्य होने के कारण ही विद्वत्परम्परा काशिका की रचना का सम्बन्ध काशी से जोड़ती रही है, किन्तु इस तर्क पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है।

हमारे विचार से 'काशिका' शब्द द्वारा काशिकाकार इसके रचना स्थान की ओर संकेत नहीं कर रहे हैं अपितु काशिका का वैशिष्ट्य प्रतिपादन कर रहे हैं। और वह वैशिष्ट्य है—काशिका की सूत्रार्थप्रकाशिता। काशिका की इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए ही सृष्टिधराचार्य ने भाषावृत्त्यर्थ-विवृत्ति ८.४.६२ में लिखा है 'काशयति प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका'। काशिकाकार ने प्रारम्भिक मङ्गलाचरण श्लोक में भी काशिका के लिए 'विवृतगूढसूत्रार्थ' लिखा है जिसका अभिप्राय है कि काशिका में सूत्रों के गूढ अर्थों को भली भाँति स्पष्ट किया गया है। अतः काशिकाकार की भावनानुसार यही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उन्होंने सूत्रार्थ की सुप्रकाशक होने के कारण ही इसे काशिका नाम दिया है न कि देश आदि अन्य किसी आधार पर।

काशिका का रचना स्थान भी काशी नहीं अपितु कश्मीर प्रतीत होता है। इस धारणा को इससे बल मिलता है कि काशिका में अपेक्षाकृत यजुर्वेद तथा उसकी शाखाओं के उदाहरण अधिक हैं। विद्वानों की धारणा है कि सर्वप्रथम उत्तर-पश्चिम भारत में यजुर्वेद सम्बन्धी साहित्य का सृजन तथा प्रसारण हुआ था। कश्मीर उत्तर-पश्चिम भारत में है। यहीं पर काशिका की रचना की गई। डा० बेलवल्कर ने लिखा है कि डा० व्यूहलर, वामन तथा जयादित्य को कश्मीर निवासी मानते हैं। अतः यह मानने मे अधिक आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि वामन तथा जयादित्य ने कश्मीर में काशिका की रचना की। यद्यपि इस विषय में प्रमाण अपेक्षित हैं।

काशिका के प्रणेता जयादित्य और वामन

कश्मीर निवासी जयादित्य तथा वामन दोनों ही काशिका के प्रणेता हैं। यद्यपि ऐसे प्रमाण भी प्राप्त होते हैं कि दोनों विद्वानों ने पृथक्-पृथक् काशिका की रचना की थी किन्तु वर्तमान काशिका दोनों विद्वानों की सम्मिलित कृति स्वीकार की जाती है। विद्वत्परम्परानुसार वर्तमान काशिका के प्रथम पांच अध्याय जयादित्य प्रणीत तथा अन्तिम तीन अध्याय वामन प्रणीत हैं। अद्भुत प्रतिभा के धनी इन विद्वानों ने ५५०-६५० ई० के मध्य अपने इस महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया। ये दोनों विद्वान् वैदिक धर्मी थे। यद्यपि विद्वत्परम्परा इन लेखकों को बौद्ध या जैन स्वीकार करती है। काशिकावृत्ति के सम्पादक पं० बाल शास्त्री ने काशिका की भूमिका में काशिकाकार को जैन माना है। मैक्समूलर के मतानुसार वे बौद्ध तथा जैन थे जबकि डा० बेलवल्कर तथा पं० राहुल सांकृत्यायन इनको बौद्ध मानते हैं। अन्य विद्वान् भी प्रायः इन्हीं विचारों के पोषक हैं। लेखक की इन सभी विचारों के साथ असहमति है।[1] हमारे विचार से काशिका के प्रणेता न बौद्ध थे, न जैन तथा न नास्तिक थे। वे आस्तिक तथा वैदिक धर्मानुयायी थे। काशिकाकार द्वारा १.३.३६ सूत्र पर 'लोकायत' का उल्लेख करना इनके बौद्ध तथा नास्तिक होने में प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता है किन्तु यह प्रमाण सर्वथा अपुष्ट है क्योंकि पतञ्जलि ने भी ७.३.४५ पर 'वर्णिका भागुरी लोकायतस्य' कहकर लोकायत का उल्लेख किया है तो इससे पतञ्जलि बौद्ध नहीं बन जाते। इस विषय में हमारी दृढ़ धारणा है कि काशिकाकार को बौद्ध या जैन सिद्ध करने में कोई भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

काशिका में प्रदत्त उदाहरणों के आधार पर यह सम्भावना तो की जा सकती है कि काशिकाकार वैदिक धर्मानुयायी थे। उनका विशाल वैदिक वाङ्मय से परिचय था। काशिका में प्रदत्त उदाहरण विस्तृत वैदिक वाङ्मय से संगृहीत हैं। जिस प्रकार चान्द्रवृत्ति, अभयनन्दी वृत्ति तथा भाषावृत्ति के उदाहरणों के आधार पर उनके प्रणेताओं का बौद्धत्व तथा जैनत्व स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है उसी प्रकार काशिका के उदाहरण उनके प्रणेताओं को वैदिक धर्मी सिद्ध कर रहे हैं न कि बौद्ध या जैन। इतना ही नहीं अपितु अनेक स्थानों पर काशिकाकार अनावश्यक रूप में भी वैदिक मान्यताओं का प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होते हैं। यथा ३।२।८८ सूत्र पर केवल 'मातृहा' 'पितृहा' उदाहरण देने अभीष्ट थे किन्तु काशिकाकार ने छान्दोग्यउपनिषद् की यह सम्पूर्ण श्रुति उद्धृत की है 'मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्।'' इस प्रकार के उदाहरणों के आधार पर काशिकाकार को हम वैदिक धर्मी कह कहते हैं।

१. इसके लिए देखें 'काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन' पृ० ४८-५६।

काशिका

वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु ।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः ॥

वृत्ति, भाष्य, धातुपारायण तथा नामपारायण आदि ग्रन्थों में विप्रकीर्ण-बिखरे हुए व्याकरण के सार को संगृहीत किया जाता है।

व्याख्या —इस श्लोक तथा अगले दो श्लोकों में काशिकाकार ने मङ्गलाचरण प्रस्तुत किया है। मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं—(१) नमस्कारात्मक—इसमें ग्रन्थकार द्वारा अपने इष्टदेव की स्तुति की जाती है। (२) आशीर्वादात्मक—इसके द्वारा आशीर्वाद दिया जाता है। (३) वस्तु-निर्देशात्मक इसके द्वारा ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय वस्तु की सूचना दी जाती है। काशिकाकार ने यहां पर वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण प्रस्तुत किया है।

वृत्तौ—वह ग्रन्थ, जिसमें सूत्रों के अर्थ की प्रधानता हो, वृत्ति कहलाता है। पाणिनीय सूत्रों पर काशिका से पूर्व भी कुणि आदि आचार्यों द्वारा वृत्तिग्रन्थ लिखे गये थे।[1] उनमें से ही किसी वृत्ति का आश्रय काशिकाकार ने लिया है।

भाष्ये—आक्षेप तथा समाधान पूर्वक सूत्रार्थ की विवेचना करने वाला ग्रन्थ भाष्य कहलाता है।[2] काशिकाकार ने यहां पर भाष्य का नाम लिया है, महाभाष्य का नहीं। पाणिनीय सूत्रों पर पतञ्जलि मुनि प्रणीत ग्रन्थ महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है तथापि यह सुनिश्चित है कि काशिकाकार ने पतञ्जलि मुनि प्रणीत महाभाष्य का ही आश्रय लिया है। काशिका न केवल महाभाष्य के भावों से ही अनुप्राणित है अपितु अनेक स्थलों पर काशिका तथा महाभाष्य की वर्णानुपूर्वी भी समान है। अनेक स्थानों पर 'इत्याह' 'इत्युच्यते' कहकर जिन वचनों को काशिकाकार उदधृत करते हैं उनमें से अनेक वचन महाभाष्य में उपलब्ध हैं। इस श्लोक के अतिरिक्त आगे भी पाँच स्थानों पर काशिकाकार ने भाष्य का नाम लिया है।[3]

धातुनामपारायणादिषु—धातुओं की प्रक्रिया के प्रतिपादक ग्रन्थ को धातुपारायण कहते हैं तथा जिसमें गणशब्दों का निर्वचन किया जाए, वह

---

१. काशिका, न्यासपदमञ्जरी सहिता--तारा पब्लिकेशन, वाराणसी १९६५ भाग १, पृ० ४।
सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः। सा चेह पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां कुणिप्रभृतिभिराचार्यैर्विरचितं विवरणम्।

२. वही।
आक्षेपसमाधानपरो ग्रन्थो भाष्यम्। तच्च पतञ्जलिप्रणीतम्।

३. काशिका [illegible] तथा ८.३.४७।

ग्रन्थ नामपारायण कहलाता है।[1] सम्भव है कि माधवीया धातुवृत्ति की भांति पहले भी धातुओं की प्रक्रिया का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ रहा हो जिसका आश्रय काशिकाकार ने लिया है। नामपारायण से तात्पर्य गणपाठ जैसे ग्रन्थ से है। 'आदि' पद से शिक्षा, उणादि, फिट्सूत्र, कातन्त्र, चान्द्र आदि व्याकरणों का ग्रहण होता है जिनका आश्रय काशिकाकार ने लिया है। इस श्लोक के अतिरिक्त ८।३।४८ सूत्र में भी काशिकाकार ने पारायणिकों के मत को उपस्थित किया है। पुरुषोत्तम देव[2] तथा सायणाचार्य[3] ने भी पारायणिकों के मत का उल्लेख किया है। सर्वानन्द ने अमरटीका सर्वस्व में पूर्णचन्द्र के नाम से पारायण का स्मरण किया है।[4] डा० लिविस को नेपाल, कश्मीर तथा लंका से उपलब्ध व्याकरण विषयक सामग्री में पूर्णचन्द्र कृत धातुपारायण उपलब्ध हुआ है।[5] यदि सर्वानन्द तथा लिविस के संकेत अभ्रान्त हों तो धातुपारायण को पूर्णचन्द्र कृत माना जा सकता है।

विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः—सार संग्रह पद को दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है। (१) सारञ्चासौ संग्रहश्चेति (कर्मधारय)। सम्यक् समन्ताद्वा गृह्यते लक्ष्यं लक्षणञ्चानेनेति संग्रहः। इस पक्ष में स्वयं यह काशिकावृत्ति ही अपने से पूर्व विप्रकीर्ण तन्त्र का सारसंग्रह है। (२) सारस्य संग्रहः (षष्ठी)। संग्रहणं संग्रहः—संक्षेपः। यहां पर संग्रह पद भाव में है जिसका अर्थ है कि काशिका में अपने पूर्व ग्रन्थों के सार सिद्धान्त को संगृहीत अथवा संक्षिप्त किया गया है। सार शब्द पुंल्लिङ्ग में उत्कृष्टता तथा नपुंसक लिङ्ग में निर्दोषता का सूचक है जिसका अर्थ है कि वृत्ति, भाष्य आदि ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त को काशिका में उत्कृष्टता तथा निर्दोषता के साथ संगृहीत किया गया है। 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' अमर कोश के इस वचनानुसार सिद्धान्त को भी तन्त्र कहते हैं। इसका अर्थ हुआ कि काशिका में अपने से पूर्व ग्रन्थों में प्रतिपादित व्याकरण के सिद्धान्तों को संगृहीत किया गया है। तन्त्र पद व्याकरण वाचक भी है जिसका अर्थ हुआ कि वृत्ति भाष्य आदि के माध्यम से व्याकरण की जो परम्परा विस्तार को प्राप्त कर चुकी थी उसका सारसंग्रह काशिका में किया गया है।

---

१. काशिका भाग, १ पृ० ४
यत्र धातुप्रक्रिया तद् धातुपारायणम्। यत्र गणशब्दानां निर्वचनं तन्नामपारायणम्। आदिशब्देन शिक्षोणादिफिषादेर्ग्रहणम्।

२. परिभाषावृत्ति, कलकत्ता १९६४, पृ० ६१।

३. माधवीया धातुवृत्ति, प्राच्य भारती प्रकाशन, १९६४, पृ० १७३, ३४६ ३६७, ४५७ तथा ४०९।

४. अमरटीका सर्वस्व, भाग १, पृ० ४।

५. इण्डियन एण्टीक्वेरी अप्रैल १८९६ पृ० १०३

इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था ।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम ॥

इष्टियों तथा उपसंख्यानों से युक्त शुद्धगणवाली, सूत्रों के गूढ आशय को स्पष्ट करने वाली तथा कठिन रूपों की सिद्धि से युक्त यह काशिका नाम की वृत्ति है ।

व्याख्या—इस श्लोक में काशिकाकार ने काशिका की विशेषताओं की ओर इंगित किया है । पूर्व ग्रन्थों का सारसंग्रहरूपी यह काशिका इष्टि, उपसंख्यान आदि विशेषताओं से युक्त है । काशिका से पूर्व भी पाणिनीय सूत्रों पर अन्य वृत्तियां थीं । उन वृत्तियों की अपेक्षा काशिका का वैशिष्ट्य बतलाने के लिए ही काशिकाकार ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन दो श्लोकों को लिखा है । काशिका से पूर्ववर्ती वृत्तियां इष्टि, उपसंख्यान तथा सारसंग्रह रूपी इन विशेषताओं से शून्य थीं । उनमें केवल सूत्र व्याख्यात थे ।[1]

इष्ट्यु पसंख्यानवती—√इष् से क्तिन् प्रत्यय करने पर 'इष्टि' शब्द सिद्ध होता है । भाष्यकार ने इसका विग्रह इस प्रकार किया है—इष्यतेऽनयेति इष्टिः ।[2] हरदत्त ने इष्टि तथा उपसंख्यान के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सूत्रों से असंगृहीत कार्य का जिससे ग्रहण हो, उसे इष्टि तथा उपसंख्यान कहते है ।[3] शेष श्रीकृष्ण ने इच्छा प्रदर्शक वाक्यों को इष्टि कहा है ।[4] काशिका में पठित उपसंख्यान पद से वार्त्तिकों तथा वक्तव्यों का ग्रहण होता है । नागेश भट्ट के अनुसार सूत्रों में उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त बातों पर विचार करने वाले वाक्य वार्त्तिक कहलाते हैं ।[5] इष्टियों के कर्त्ता कात्यायन, भाष्यकार तथा इनसे भिन्न अनेक आचार्य हैं । वार्त्तिक कात्यायन प्रणीत हैं । अनेक वार्त्तिक साक्षात् 'उपसंख्यान' तथा 'वक्तव्य' पदों से युक्त हैं किन्तु वार्त्तिकों के अतिरिक्त भी अनेक उपसंख्यान तथा वक्तव्य काशिका में उप-

---

१. काशिका, न्यासपदमञ्जरी सहिता, भाग० १, पृ० ५ ।
वृत्त्यन्तरेषु सूत्राण्येव व्याख्यायन्ते । इयं पुनरिष्ट्यादिमती ।

२. भाष्य कीलहार्न संस्करण १८८७, भाग २, पृ० १५२ ।

३. काशिका भाग १ पृ० ५ ।
सूत्रेण असंगृहीतं लक्ष्यं येन संगृह्यते तदुपलक्षणमिष्ट्युपसंख्यानग्रहणम् ।
तेन वक्तव्यादीनामपि ग्रहणम् ।

४. शेष श्रीकृष्ण, पदचन्द्रिका विवरण, पृ० १ ।
'मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते' इत्यादीनि इच्छाप्रदर्श-वाक्यानि इष्टयः

५. भाष्य ७.३.५६ पर उद्योत ।
उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं हि वार्त्तिकत्वम् ।

लब्ध हैं। स्वयं काशिकाकार ने भी सप्रयोजन कुछ इष्टियों तथा उपसंख्यानों का निर्माण किया है।[1]

शुद्धगण—काशिकाकार ने काशिका में गणपाठ का न केवल समावेश ही किया है अपितु अपने से पूर्व उपलब्ध गणपाठ का यत्नपूर्वक संशोधन भी किया है। अन्य गणपाठों की अपेक्षा काशिका का गणपाठ शुद्ध अत एव प्रामाणिक है। काशिका से पूर्ववर्ती वृत्तियों में गणपाठ नहीं था। हरदत्त मिश्र ने लिखा है 'वृत्त्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति'।

विवृतगूढसूत्रार्था—काशिका की अन्य विशेषता है कि काशिकाकार ने सूत्रों के गूढ अभिप्राय को संक्षेप में अत्यन्त निपुणता के साथ प्रदर्शित किया है। हरदत्त गूढ पद को सूत्रार्थ मात्र का उपलक्षण मानते हुए इसे वृत्ति का लक्षण स्वीकार करते हैं।[2] सूत्रों के गूढ़ आशय को स्पष्ट करने के लिए काशिकाकार ने कहीं कहीं पर सूत्रों के कई-कई अर्थ दिखलाये हैं। अनेक सूत्रों पर उन्होंने प्राचीन आचार्यों के अर्थों को भी उद्धृत किया है। इनमें से कुछ आचार्य महाभाष्य में भी उल्लिखित नहीं हैं।

व्युत्पन्नरूपसिद्धि—व्युत्पन्नानां शब्दरूपाणां सिद्धिर्यस्याम्। यद्यपि काशिका सूत्रार्थ का प्रतिपादक लक्षणैकचक्षु ग्रन्थ है—लक्ष्यैकचक्षु प्रक्रिया ग्रन्थ नहीं, तथापि सूत्रार्थ प्रकाशन के साथ साथ काशिका में अनेक कठिन रूपों की सिद्धि भी गई है। इसके लिए काशिका के 'न पदान्त द्विर्वचन...' 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यादि १.१.५८-५९ सूत्र द्रष्टव्य हैं।

व्याकरणस्य शरीरं परिनिष्ठितशास्त्रकार्यमेतावत् ॥
शिष्टः परिकरबन्धः क्रियतेऽस्य ग्रन्थकारेण ।३॥

यह काशिका व्याकरण का शरीर है। शास्त्र अर्थात् व्याकरण शास्त्र का कार्य काशिका में पूर्ण हो जाता है। ग्रन्थकार ने इस काशिका की शिष्ट एवं नियमबद्ध रचना की है। पाणिनीय सूत्रों को यदि व्याकरण की आत्मा माना जाए तो काशिका को उसका शरीर कहना सर्वथा उचित है। व्याकरण के आत्मा पाणिनीय सूत्रों को अपने सुसंगत, सारग्राही, परिमार्जित एवं संक्षिप्त शरीर द्वारा सुरक्षित रखने का श्रेयः काशिकाकार को ही है। काशिकाकार घोषणा कर रहे हैं कि व्याकरण की शरीररूपा इस काशिका में व्याकरण का कार्य समाप्त हो जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो काशिका के पश्चात् महाभाष्य आदि ग्रन्थों में केवल दार्शनिक विवेचना रह जाती है। व्याकरण का कार्य काशिका में समाप्त है।

---

१. इसके लिए 'काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन' नामक पुस्तक का पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय देखें।

२. काशिका, भाग २, पृ० ५।
गूढग्रहणं सूत्रार्थमात्रोपलक्षणम्। सूत्रार्थप्रधाना इत्यर्थः। अनेन वृत्ति-लक्षणमुक्तम्।

अथ शब्दानुशासनम्

विशेष—यह पाणिनीय व्याकरण का प्रथम सूत्र है। कुछ विद्वान् इस सूत्र को पतञ्जलि प्रणीत स्वीकार करते हैं। महाभाष्य के व्याख्याता कैयट उपाध्याय का भी यही विचार है। उनके अनुसार पतञ्जलि ने इस सूत्र द्वारा व्याकरण का साक्षात् प्रयोजन बतलाया है। एतदतिरिक्त आगे कहे जाने वाले 'रक्षोहागम०' आदि परम्परा से व्याकरण के प्रयोजन हैं।

काशिकाकार ने अन्य सूत्रों के समान ही इस सूत्र की भी व्याख्या की है। अतः प्रतीत होता है कि काशिकाकार इस सूत्र को पाणिनीय ही स्वीकार रहे हैं। यदि ऐसा न होता तो वे इसकी व्याख्या न करते। उन्होंने काशिका में पाणिनि के सूत्रों की ही व्याख्या की है, किसी अन्य के सूत्रों की नहीं। भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य, मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि तथा अपने अष्टाध्यायी भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस सूत्र को पाणिनिप्रणीत ही स्वीकार किया है। महाभाष्य को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि यह सूत्र पाणिनि प्रणीत ही है। महाभाष्य में लिखा है—"अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते" पाणिनि प्रणीत सूत्रों के लिए ही पतञ्जलि इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार इस सूत्र को पाणिनि का मानकर ही संगति लगती है।

व्याख्या—'अथ' शब्द यहां पर अधिकारार्थ में प्रयुक्त है। 'अथ' यह एक निपातन है। अधिकार का अर्थ है—प्रस्तुतीकरण। यदि केवल 'शब्दानुशासनम्' इतना ही सूत्र होता तो सन्देह उत्पन्न हो सकता था कि क्या शब्दानुशासन आरम्भ किया जा रहा है, सुना जा रहा है अथवा पढ़ा जा रहा है। अथ शब्द के द्वारा यह निश्चय होता है कि शब्दानुशासन प्रस्तुत किया जा रहा है 'अनुशिष्यन्ते संस्क्रियन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽनेन शब्दा इत्यनुशासनम् जिसके द्वारा शब्दों का शासन-संस्कार व्युत्पन्न हो उसे ही अनुशासन कहते हैं। शब्दानामनुशासनम्=शब्दानुशासनम्। व्याकरण द्वारा ही शब्दों का अनुशासन—शब्द सिद्धि होती है अतः 'शब्दानुशासनम्' यह व्याकरण की अन्वर्थ संज्ञा है। शब्द सिद्धि ही इसका प्रयोजन है। परम्परा से वेद की रक्षा भी व्याकरण का प्रयोजन है।

केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च।

लौकिक एवं वैदिक शब्दों का अनुशासन यहां व्याकरणशास्त्र में किया जा रहा है। लोक में जाने गये अथवा लोक में होने वाले शब्द लौकिक कहलाते हैं। इसी प्रकार वेद में जाने गये अथवा वेद में प्रचलित शब्द वैदिक

हैं। लौकिक शब्दों की अपेक्षा वैदिक शब्दों की विशेषता बतलाने के लिए ही उनका लौकिक शब्दों से पृथक् ग्रहण किया है। जैसे यह कहा जाए कि 'मंत्री लोग आ गये, शिक्षा मन्त्री भी उनके साथ हैं' यहां शिक्षामंत्री का पृथक् ग्रहण उनकी विशेषता बतला रहा है। वैदिक शब्दों का वैशिष्ट्य प्रतिपादन यही है कि प्रयत्नपूर्वक उनकी रक्षा की जाय अन्यथा उनकी अपभ्रंशता होने से महान् अनर्थ की प्राप्ति होगी। लौकिक तथा वैदिक शब्दों में अन्तर यह है कि लौकिक शब्दों की वर्णानुपूर्वी अनियत होती है जबकि वैदिक शब्दों की वर्णानुपूर्वी नियत होती है। जैसे शन्नो देवीरभिष्टये० आदि वैदिक तथा लौकिक शब्दों के ग्रहण से ऐसे शब्दों का निराकरण हो जाता है कि जो न वेद में प्रचलित हैं तथा न लोक में। **कथमनुशासनम् प्रकृत्यादि विभागकल्पनया सामान्यवता लक्षणेन लौकिक** तथा वैदिक शब्दों का अनुशासन किस प्रकार किया जाता है। प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग करके सामान्य एवं विशेष सूत्रों द्वारा शब्दों का अनुशासन किया जाता है। जिससे (धातु या प्रातिपदिक) प्रत्यय किया जाए उसे प्रकृति कहते हैं। प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः। समान रूप में सभी स्थानों पर प्रयुक्त होने वाले सूत्र को सामान्यलक्षण कहते हैं तथा सामान्य सूत्रों के अपवाद स्वरूप सूत्र विशेषलक्षण कहलाते हैं। यथा—'कर्मण्यण्' ३.२.१ यह सामान्य सूत्र है किन्तु 'आतोऽनुपसर्गे कः' ३.२.३ यह इसका अपवाद सूत्र है। अपवाद सूत्र सामान्यसूत्रों को बांध लेते हैं।

प्रत्याहार प्रकरण

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः। प्रत्याहारार्थः। प्रत्याहारो लाघवेन शास्त्र-प्रवृत्त्यर्थः।

वर्णों का उपदेश किस लिए किया गया है। प्रत्याहार के लिए। प्रत्याहार की उपयोगिता यही है कि यह लघुता से व्याकरण शास्त्र की प्रवृत्ति कराता है। प्रत्याह्रियन्ते अस्मिन्निति प्रत्याहारः।

व्याख्या—पाणिनि मुनि ने सर्व प्रथम अपने व्याकरण के प्राणरूप १४ प्रत्याहार सूत्रों की रचना की है। भ्रान्ति से ये प्रत्याहार सूत्र महेश्वर प्रणीत माने जाते हैं। वस्तुतः पाणिनि ने ही इन १४ सूत्रों की रचना की है। इन सूत्रों का कोई भी वर्ण किसी भी इत् संज्ञक वर्ण के साथ मिलकर प्रत्याहार बनाता है। प्रत्याहार बनाने वाले वर्ण तथा इत् संज्ञक वर्ण के मध्य में आने वाले सभी वर्णों (इत् संज्ञक वर्ण को छोड़ कर) का ग्रहण उस प्रत्याहार से होता है। 'अ इ उ ण्, ऋ लृक्' यहां पर 'अ' वर्ण 'क्' के साथ मिलकर 'अक्' प्रत्याहार बनाता है। इसी प्रकार 'इ' तथा 'उ' भी 'क्' से मिलकर 'इक्' तथा 'उक्' प्रत्याहार बनाते हैं। इनके द्वारा क्रमशः 'अ इ उ ऋ लृ'

'इ उ ऋ लृ' तथा 'उ ऋ लृ' वर्णों का ग्रहण अक्, इक्, उक् प्रत्याहारों से होता है। इस प्रकार ४२ प्रत्याहार बनते हैं।

विशेष—कात्यायन ने वार्त्तिक द्वारा वर्णों के उपदेश का प्रयोजन वृत्ति-समवाय माना है। पतञ्जलि ने वहां पर वार्त्तिक की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि वृत्ति समवाय भी प्रत्याहार बनाने के लिए है तथा प्रत्याहार लाघव के साथ शास्त्र की प्रवृत्ति कराता है। इस प्रकार साक्षात् या परम्परा से लघुतापूर्वक शास्त्रप्रवृत्ति ही वर्णों के उपदेश का प्रयोजन है। प्रत्याहार इसी लिए बनाये हैं कि जिससे बार-बार उन उन वर्णों का उच्चारण न करना पड़े।

अ इ उ ण ॥१॥

अ इ उ इत्यनेन क्रमेण वर्णानुपदिश्यान्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन 'उरण् रपर" (अ० सू० (१।१।५१) इत्यकारेण। ह्रस्वमवर्णं प्रयोगे संवृत्तम्। दीर्घप्लुतयोस्तु विवृतत्वम्। तेषां सावर्ण्य-प्रसिद्ध्यर्थमकार इह शास्त्रे विवृतः प्रतिज्ञायते। तस्य प्रयोगार्थम् "अ अ" (अ० स० ८।४।७६) इति शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिः करिष्यते।

वृत्त्यर्थ—अ इ उ इस क्रम से वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार बनाने के लिए अन्त के णकार की इत् संज्ञा करते हैं। इसका उपयोग केवल 'उरण् रपरः' (१.१.५१) यहाँ एक सूत्र में होता है। ह्रस्व अवर्ण प्रयोग में संवृत हैं। दीर्घ तथा प्लुत अकार विवृत हैं। दीर्घ तथा प्लुत की सावर्ण्य प्रसिद्धि के लिए अकार को भी यहाँ व्याकरण शास्त्र में विवृत माना जाता है। उस विवृतत्व के प्रयोग के लिए 'अ अ इति' (८.४.६८) यहां पर शास्त्र के अन्त में प्रत्यापत्ति की जाती है।

व्याख्या—प्रत्यापत्ति—जिसने अपने स्वरूप को छोड़ दिया है उसे पुनः उसके स्वरूप की प्राप्ति को प्रत्यापत्ति कहते हैं। ह्रस्व अकार संवृत है तथा दीर्घ और प्लुत अकार विवृत है। अतः प्रयत्न भिन्न होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा प्राप्त नहीं होती है। क्योंकि 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' १.१ से समान स्थान तथा समान प्रयत्न वाले शब्दों की ही सवर्ण संज्ञा होती है। सवर्णसंज्ञा न होने से दण्ड+आढकम् यहां पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' ६.१.१०१ से दीर्घत्व की प्राप्ति आदि कार्य नहीं हो सकेंगे। इसीलिए ह्रस्व अकार को भी विवृत माना जाता है। विवृत माने गये अकार का उसी रूप में प्रयोग न होता रहे, इसलिए अष्टाध्यायी के अन्त में 'अ अ इति' सूत्र द्वारा विवृत को पुनः संवृत किया जाता है। यही प्रत्यापत्ति कहलाती है।

'अ इ उ' यहां पर पाणिनि के नियमानुसार सन्धि प्राप्त है। किन्तु ये तीनों वर्ण निपातसंज्ञक हैं। निपात होने से इनकी 'निपात एकाजनाङ्'

१.१.१४ से प्रगृह्य संज्ञा होती है। प्रगृह्य संज्ञा होने से 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' ६.१.१२५ से सन्धि न होकर प्रकृति भाव ही रहता है।

ऋ लृ क् ॥२॥

ऋ लृ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वश्चान्ते ककारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः—'अकः सवर्णे दीर्घः (अ० सु० ३।१।१०१) इत्यकारेण, "इको गुणवृद्धी" (अ० सु० १।१।६) इतीकारेण, "उगितश्च" अ० स० ४।१।५) इत्युकारेण। अकारादयो वर्णाः प्रचुरप्रयोगविषयास्तेषां सुज्ञानमुपदेशे प्रयोजनम्। लृकारस्तु क्लृपिस्थ एव प्रयुज्जते, क्लृपेश्च "पूर्वत्रासिद्धम्" (अ० स० ५।२।१)। इति लत्वमसिद्धम्। तस्यासिद्धत्वाद् ऋकार एव अच्कार्याणि भविष्यन्तीति किमर्थं लृकार उपदिश्यते? लत्वविधानाद्यानि पराण्यच्कार्याणि तानि लृकरे यथा स्युरिति। कानि पुनस्तानि? प्लुतः, स्वरितो द्विर्वचनम्। क्लृ३प्तशिखः। प्रक्लृप्तः। क्लृप्तः। क्लृप्तवानिति। यच्चाशक्तिजमसाधुरूपं तदनुकरणस्यापि साधुत्वमिष्यते। तत्स्थस्यापि लृकारस्याच्कार्यप्रतिपत्यर्थं लृकारोपदेशः क्रियते 'ऋतक' इति प्रयोक्तव्ये वंकत्यात् कुमारी 'लृतक' इति प्रयुङ्क्ते तदन्योऽनुकरोति कुमार्यलृतक इत्याह इति।

वृत्यर्थ—'ऋ लृ' इन दोनों वर्णों का उपदेश करके अन्त में प्रत्याहार के लिए ककार को इत् किया जाता है। इसका ग्रहण तीन रूपों में होता है—'अकः सवर्णे दीर्घः' ६.१.१.१ सूत्र में अकार के द्वारा, 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ सूत्र में इकार के द्वारा तथा 'उगितश्च' ४.१.५ सूत्र में उकार के द्वारा। अकारादि वर्णों का प्रचुर प्रयोग होता है। उनका भली प्रकार ज्ञान होना ही उनके उपदेश का प्रयोजन है। लृकार तो केवल 'क्लृपि' धातु में ही प्रयुक्त होता है तथा 'क्लृपि' धातु का लक्ष्य 'पूर्वत्रासिद्धम्' ८.२.१ से असिद्ध हो जाता है। उसके असिद्ध होने से ऋकार को ही अच्कार्य (सन्धिगुणादि) हो जायेंगे—फिर लृकार का उपदेश किस लिए किया गया है। लत्व विधान से बाद के अच्कार्य भी लृकार को हो जाएं, इसलिए लृकारोपदेश किया गया है। वे कार्य कौन से हैं? प्लुत, स्वरित तथा द्विर्वचन। इनके क्रमशः उदाहरण हैं—क्लृ३प्त शिखः, प्रक्लृप्तः, क्लृप्तः क्लृप्तवान्। और जो उच्चारण की अशक्ति के कारण असाधु लृतक शब्द है, उसके अनुकरण का भी साधुत्व इष्ट है अतः अनुकरणस्थ लृकार को अच् कार्यों में विधान के लिए लृकारोपदेश किया गया है। यथा ऋतक ऐसा कहने के स्थान पर कोई कुमारी मुखयन्त्र की अशक्ति के कारण 'लृतकः' ऐसा बोलती है तथा दूसरा व्यक्ति उसका

---

१. 'अकारादयो वर्णाः' से लेकर 'कुमार्यलृतक इत्याह' तक की सभी पंक्तियां इसी रूप में चान्द्र व्याकरण की वृत्ति में भी उपलब्ध हैं। सम्भवतः काशिकाकार ने इनको वहीं से ग्रहण किया है।

अनुकरण करके 'कुमार्यलृतक' ऐसा कहता है। अतः यहां पर यण् विधान के लिए 'ऋलृक्' में लकारोपदेश अभीष्ट है।

व्याख्या—कृप् धातु के रेफ को 'कृपो रो लः ८.२.१८ सूत्र से लत्व होकर 'क्लृप्' धातु बन जाती है। केवल इसी 'क्लृप्' धातु के लिए 'ऋ लृ क्' सूत्र में लृकार का उपदेश किया है जिससे लृकार को अच् मान कर √क्लृप् में सन्धि गुणादि अच्कार्य हो जाएं। यहां पर शंका की गई है कि 'कृपो रो लः' सूत्र द्वारा किया गया लत्व अच्कार्यों की दृष्टि में असिद्ध हो जायेगा क्योंकि त्रिपादी द्वारा (८.२.१ से अष्टम अध्याय की समाप्ति तक) विहित कार्य सपाद सप्ताध्यायी (१।१।१ से लेकर आठवें अध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति तक) की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है। अर्थात् यदि त्रिपादी का कोई कार्य हो गया हो तथा उसके पश्चात् सपादसप्ताध्यायी का कोई कार्य प्राप्त हो तो त्रिपादी का कार्य असिद्ध समझा जायेगा। √कृप् में लत्व विधान भी त्रिपादी के सूत्र द्वारा किया गया है। अतः यह लत्व षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद से होने वाले अच्कार्यों की दृष्टि में असिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार लृकारोपदेश की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार शंका करके उत्तर दिया गया है कि लत्व विधान से अगले अच्कार्य भी लृकार में हो जाएं इसलिए लृकार का अचों में उपदेश किया गया है। लत्वविधान से अगले कार्य ये हैं—(१) प्लुत 'क्लृ३प्त-शिखः' यहां पर 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' ८.२.८६ सूत्र से प्लुत होता है। (२) स्वरित—प्रक्लृ̀प्तः। यहां पर 'निपाता आद्युदात्ता उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इस फिट् सूत्र से 'त' उदात्त है। 'प्र' तथा 'क्लृप्त' का समास करने पर भी गतिरनन्तरः ६.२.४९ सूत्र से पूर्वपदप्रकृति स्वर होकर 'प्र' शब्द उदात्त ही रहता है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' ६.१.१५८ से 'लृ' तथा 'तः' अनुदात्त बन जाते हैं। तत्पश्चात् 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ८.४.६६ सूत्र द्वारा अनुदात्त 'लृ' को स्वरित बन जाता है। (३) द्विर्वचन—'क्लृप्तः, क्लृप्तवान्' लृकार को अच् मानकर यहां 'अनचि च' ८.४.४७ सूत्र से लृकार (अच्) से परे पकार को द्वित्व होकर यह रूप बनता है। उक्त तीनों कार्य तभी सम्भव हैं जबकि लृकार को भी अच् मान लिया जाए। इन कार्यों के लिए ही ऋ लृ क् सूत्र में लृकारोपदेश किया गया है।

क्लृप्प्तः	क्लृप्प्तवान्
निष्ठा— कृपु+क्त=कृप्+त।	कृपु+क्तवतु=कृप्+तवत्
कृपो रो लः—क्लृप्+त	कृपो रो लः—क्लृप्+तवत्
अनचि च—क्लृप्प्त	अनचि—क्लृप्प्+तवत्
क्लृप्प्त+सु	क्लृप्प्तवत्+सु
उपदेशेऽजनु०—क्लृप्प्त+स्	अत्वसन्तस्य चाधातोः—क्लृप्प्त-वात्+सु

समजुषो रुः—क्लृप्त + रु

उपदेशेऽज०—क्लृप्त + र्

खरवसानयोर्विसर्जनीयः—

क्लृप्तः

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः—

क्लृप्तवा + नुम् + त् + स्

= क्लृप्तवा + न् + त् + स् ।

हलङ्याब्भ्यो०—क्लृप्तवान्त् ।

संयोगान्तस्य लोपः—क्लृप्तवान्

ए ओङ्० ॥३॥

ए ओ इत्येतो वर्णावुपदिश्यान्ते ङकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन 'एङि पररुपम्' (अ० सू० ६।१।७८) इत्यनेन ।

वृत्यर्थ–ए ओ इन दो वर्णों का उपदेश करके ङकार को प्रत्याहार के लिए इत् करते हैं । 'एङि पररूपम्' ६ १·९४ इस एक सूत्र द्वारा इसका ग्रहण होता है ।

ऐ औच् ॥४॥

ऐ औ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चन्ते चकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (अ० स० १।१।५७) इत्यकारेण, "इच एकाचोऽम् प्रत्ययवच्च" (अ० सू० ।६।३,६५)। इति इकारेण "एचोऽयवायावः" (अ० सू० ६।१।७८) इदि एकारेण, "वृद्धिरादैच्" (अ० सू० १।१।१) इति ऐकारेण ।

वर्णेषु ये वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयस्तेषु तत्कार्यं न भवति तच्छायानुकारिणो हि ते, न पुनस्त एव । पृथक्प्रत्यननिर्वर्त्य हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः । नुड्विधिलादेशविनाषु ऋकारे प्रतिविधातव्यम्ः । नुड्विधौ ऋकारग्रहणम्-आनृघतुः आनृधुः । लादेशे ऋकारग्रहणम्—क्लृप्तः' क्लृप्तवान । विनामे ऋकारग्रहणम्—कर्तुणाम् ।

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न ?
आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः ॥

वर्णेषु ये वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयस्तेषु तत्कार्यं न भवति, तच्छायानुकारिणो हि ते, न पुनस्त एव ।पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः । *नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारे प्रतिविधातव्यम् नुड्विधौ ऋकारग्रहणम् आनृघतुः आनृधुः । । लादेशे ऋकारग्रहणम्—क्लृप्तः, क्लृप्तवान् । विनामे ऋकारग्रहणम्—कर्तृणाम् ।

वृत्यर्थ—'ऐ औ' इन वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में चकार को इत् करते हैं । उसका ग्रहण चार रूपों में होता है—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' में अकार द्वारा, 'इच एकाचोऽम् प्रत्ययवच्च' में इकार द्वारा —'एचोऽयवायावः' में एकार द्वारा 'वृद्धिरादैच्' में ऐकार द्वारा । इस प्रकार क्रमशः अच्, इच्, एच्, ऐच् ये चार प्रत्याहार बनते हैं ।

प्रत्याहार के मध्य में जो इत्संज्ञक व्यञ्जन अनुबन्ध के रूप में रहते हैं उनका ग्रहण प्रत्याहार के द्वारा नहीं होता है यथा 'अ इ उ ण्' 'ऋ लृ क्'- यहां पर 'अक्' प्रत्याहार में 'अ इ उ ऋ लृ' वर्ण ही आते हैं, 'ण्' नहीं आता। ऐसा क्यों होता है, इसी को प्रश्नोत्तर रूप में कारिका में कहा है—

कारिकार्थ—प्रत्याहार अर्थात् अक्षर समाम्नाय जो णकारादि अनुबन्ध हैं, उनका अचों में ग्रहण क्यों नहीं होता ? उत्तर है—**आचारात्**=आचार्य की प्रवृत्ति के कारण। यदि अनुबन्धों को अजादि कार्य अभीष्ट होता तो 'उणादयो बहुलम्' ३.३.१ सूत्र में उकार तथा णकार में सन्धि हो जाती। इसी प्रकार 'तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य' १.२.२५ यहां पर षकार तथा इकार में सन्धि प्राप्त थी। इस प्रकार के प्रयोगों में स्वयं आचार्य पाणिनि ने ही अच्कार्य नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि अनुबन्धों का ग्रहण अचों में नहीं होता। **अप्रधानत्वात्**—अर्थात् गौण होने के कारण। अनुबन्धों का प्रयोग प्रत्याहार बनाने के लिए किया गया है। परार्थ होने के कारण अनुबन्ध अप्रधान हैं। अ इ उ आदि वर्ण प्रधान हैं। अतः 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसंप्रत्ययः' परिभाषा के अनुसार प्रधान 'अ इ उ' आदि की ही अच् संज्ञा होती है। **लोपश्च बलवत्तरः** 'तस्य लोपः' १.३.९ से इत् संज्ञकों का लोप हो जाता है, लोप कार्य संज्ञा कार्य की अपेक्षा बलवान् माना गया है। परिभाषा भी है—लोपविधिः सर्वविधिभ्यो बलीयान्। अतः अच् संज्ञा होने से पूर्व ही अनुबन्धों का लोप हो जायेगा।

एकार ओकार आदि वर्णों में जो इनके एकदेश अकारादि वर्ण हैं, वे यद्यपि दूसरे वर्णों के समान आकृति वाले हैं किन्तु उनमें उन स्वतन्त्र अकारादि के समान कार्य नहीं होता है। क्योंकि ये वर्णदेश उन उपदिष्ट वर्णों की छाया मात्रा हैं, वस्तुतः वे नहीं हैं। स्वतन्त्र प्रयत्न वाले ही को आचार्य वर्ण कहते हैं। **वार्त्तिक**—नुड्विधि, लादेश तथा विनाम में ऋकारस्थ रेफ का हल् ग्रहण से ग्रहण किया जाना चाहिए। यथा—नुड्विधि में ऋकार ग्रहण —आनृधतुः आनृधुः। लादेश में ऋकार ग्रहण—क्लृप्तः क्लृप्तवान् विनाम में ऋकारग्रहण—कर्तॄणाम्।

व्याख्या—आ, ए, ऐ, ओ, औ आदि वर्णों में अकार, इकार, उकार आदि वर्ण भी समाविष्ट हैं यथा—आकार में अ+अ, ए में अ+इ। ओ में अ+उ। सन्धि होने पर ये 'आ, ए' आदि के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। प्रश्न है कि इन वर्णैकदेशों में स्वतन्त्र रूप में उपदिष्ट अकारादि के समान कार्य होते हैं या नहीं। भाष्य में यद्यपि वर्णैकदेशों का ग्रहणक पक्ष भी दिखलाया है किन्तु इस पक्ष में अग्रहणक पक्ष की अपेक्षा अधिक दोष हैं। काशिकाकार ने कम दोष होने के कारण अग्रहणक पक्ष ही स्वीकार किया है। काशिकाकार का

कथन है कि वर्णैकदेशों का अपना अलग से कोई प्रयत्न नहीं होता जबकि स्वतन्त्र रूप में उपदिष्ट अकारादि वर्णों का अपना अपना प्रयत्न होता है। वर्णैकदेश इन उपदिष्ट वर्णों की छाया मात्र है वस्तुतः वे नहीं हैं। छाया में वास्तविक कार्य नहीं होता है यथा मनुष्य आदि की छाया में मनुष्यादि के कार्य नहीं किये जा सकते।

वर्णैदेशों के अग्रहणक पक्ष को स्वीकार करके आनृधतुः, आदि उदाहरणों में दोष आते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए वार्तिक बनाया है कि ऋकार स्थ रेफ का ग्रहण उपदिष्ट रेफ के समान करना चाहिए। (ऋ में रेफ अन्तर्निहित है)

नुड् विधि=आनृधतुः	आनृधुः
√ऋध्+तस् (लिट्)	ऋध्+झि
परस्मैपदानां णलतुस्० ऋध्+अतुस्	ऋध्+उस्
अजादेर्द्वितीयस्य—ऋध्+ऋध्+अतुस्	ऋध्+ऋध्+उस्
उरत् अर्ध्+ऋध्+अतुस्	अरध्+ऋध्+उस्
हलादिः शेषः अ+ऋध्+अतुस्	अ+ऋध्+उस्
अत आदेः आ+ऋध्+अतुस्	आ+ऋध्+उस्
तस्मान्नुड्० आ+नुट्+ऋध्+अतुस्	आ+नुट्+ऋध्+उस्
आ+न्+ऋध्+अतुस्=आनृधतुस्	आ न्+ऋध्+उस्
रुत्व, विसर्ग—आनृधतुः	आनृधुस्=आनृधुः

यहां पर 'ऋ ध्' में ऋकारस्थ रेफ की सत्ता स्वीकार करके ही 'तस्मान्नुड् द्विहलः' से नुडागम हुआ है। यदि ऋकार में रेफ न माने तो धातु में दो हल् नहीं बनेंगे।

लादेश—क्लृप्तः, क्लृप्तवान्। क्रृप्+क्त, 'कृप्+क्तवतु' इस अवस्था में ऋकार में रेफ की सत्ता स्वीकार करके ही ऋकारस्थ रेफ को 'कृपो रो लः' सूत्र से लकार होकर 'क्लृप्+क्त=क्लृप्तः' 'क्लृप्+क्तवतु=क्लृप्तवान्' रूप बनते हैं। यदि यहां पर ऋकार में रेफ का ग्रहण न करते तो उसे लत्व नहीं हो सकता था। (सिद्धि के लिए देखें सू० २ पृ० १२

विनाम—नकार को णकार करने को विनाम कहते हैं। यहाँ पूर्वाचार्यों की संज्ञा है। कर्तॄणाम् में 'कर्तृ+नाम्' इस अवस्था में ऋकार में रेफ मान कर ही 'रषाभ्यां नो णः' से नकार को णकार हुआ है। रेफ तथा षकार से परे रहने पर ही नकार को णकार का विधान किया गया है। इस प्रकार इन उदाहरणों में ऋकार में रेफ [illegible] चाहिए।

ह य व र ट् ॥५॥

ह य व र इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते टकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन "शश्छोटि" (अ० सू० ८।४।६६) इत्यकारेण । अयं रेफो यकारात्पर उपदिश्यते । तस्य यर्ग्रहणेन यय्ग्रहणेन च ग्रहणे सति स्वर्नयति प्रातर्नयतीत्यत्र यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (अ० सू० ८।४।४५) इति अनुसासिकः प्राप्नोति । भद्रह्लदो भद्रह्लदो इत्यत्र द्विर्वचनं प्राप्नोति "अचो रहाभ्यां द्वे" (अ० सू० ८।४।४६) इति । कुण्डंरथेन, वनं रथेनेत्यत्र "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" (अ० सू० ८।४।५८) इति परसवर्णः प्राप्नोति ? नैव दोषः । 'अकृतौ पदार्थे समुदाये सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तत' इत्येतस्मिन् दर्शने "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (अ० सू० ८।४।४०) अन्तरतमो भवतीत्येवमेतत्प्रवर्त्तते । तदनेन गकारादीनां ङकारदयो ये यथास्वं स्थानतो गुणतश्चान्तमास्ते सर्वे विहिताः । ये तु न स्थानतो नापिगुणतः स्थानमात्रेण गुणमात्रेण वा अन्तरतमास्ते सर्वे निर्वतिता इति स्थानमात्रान्तरमो रेफस्य णकारो न भवति । द्विर्वचनेऽपि रेफस्य यरन्तर्भावे सति यर्कार्यत्वं प्राप्तं तत्साक्षाच्छिष्टेन निमित्तभावेन बाध्यत इति न द्विरुच्यते रेफः । "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इत्येतदप्यनुस्वारान्तरतमं विदधाति । न च रेफस्यानुस्वारान्तरतमःसवर्णोऽस्तीति न भविष्यति कुण्डं रथेन, वनं रथेनेत्यत्र । अटां मध्ये विसर्जनीयजिह्वामूलीयो पध्मानीयानाप्युदेशः कर्त्तव्यः । किं प्रयोजनम् ? उर≍केण । उरःकेण । उर≍पेण उरः पेणः । अत्राडबचवाय इति णत्वं यथास्यादिति ।

वृत्त्यर्थ—'ह य व र' इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में प्रत्याहार के लिए इत् करते हैं । उसका ग्रहण 'शश्छोटि' ८.४.६३ यहां पर केवल 'अट्' प्रत्याहार द्वारा होता है । ह य व र ट् सूत्र में यकार के पश्चात् रेफ पठित है । अतः रेफ का ग्रहण 'यर्' तथा 'यय्' प्रत्याहार में हो जाता है । जिससे 'स्वर्नयति, प्रातर्नयति' में 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से रेफ को अनुनासिकत्व प्राप्त होता है । 'भद्रह्लद, मद्रह्लद' यहां पर 'अचो रहाभ्यां द्वे' से हकार से परे रेफ को द्विवचन प्राप्त है । 'कुण्डं रथेन, वनं रथेन' यहां पर 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार को परसवर्ण प्राप्त होता है । ये दोष नहीं हैं । आकृति को पदार्थ मानकर[1] समुदाय अर्थात् अनुनासिक समुदाय में एक ही बार लक्ष्य की लक्षण में प्रवृत्ति होती है । इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर 'यरो ऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इस सूत्र के साथ 'स्थानेऽन्तरतमः' की भी प्रसक्ति होती है । इसका फल यह है कि गकारादि वर्णों के जो ङकारादि वर्ण स्थान

---

१. व्याकरण शास्त्र में कहीं पर व्यक्ति को पदार्थ माना गया है तो कहीं पर जाति को । महाभाष्य में पस्पशाह्निक में इस पर विस्तार से विचार किया गया है ।

तथा प्रयत्न की दृष्टि से पूर्णतः अन्तरतम होते हैं उनका ही विधान किया गया है।[1] जो वर्ण न स्थान की दृष्टि से समान हैं तथा न गुण की दृष्टि से समान हैं अथवा जो वर्ण केवल स्थान के कारण ही अन्तरतम हैं या केवल गुण के कारण ही अन्तरतम हैं उन सबका निषेध किया गया है। अर्थात् ऐसे वर्ण एक दूसरे के स्थान पर नहीं होते। इस लिए 'स्वर्नयति' में स्थान मात्र से अन्तरतम होने के कारण रेफ को णकार नहीं होता है। द्विर्वचन का समाधान यह है कि रेफ का 'यर्' प्रत्याहार में अन्तर्भाव होने के कारण उसे जो यर् कार्यत्व प्राप्त है, वह साक्षात् विहित निमित्त भाव से बाधित हो गया। इस लिए रेफ को द्वित्व नहीं होगा। 'अनुस्वारस्यययि परसवर्णः' यह भी अनुस्वार के अन्तरतम परसवर्ण का सवर्ण नहीं है। इसलिए 'कुण्ड रथेन' 'वनं रथेन' यहां पर अनुनासिक नहीं होगा।

वार्त्तिक—अट् प्रत्याहार में विसर्जनीय (ः), जिह्वामूलीय (ᳵ), तथा उपध्मानीय (ᳶ), का भी उपदेश करना चाहिए जिससे 'उरः केणः, उर ᳵ केणः, उरः पेणः, उर ᳶ पेणः' में 'अट् कुप्वाङ्०' सूत्र से णत्व हो जाय।

व्याख्या—रेफ 'यय्' तथा 'यर्' इन दोनों प्रत्याहारों के अन्तर्गत आ जाता है जिस कारण तीन दोष प्राप्त होते हैं—(१) स्वर्नयति, प्रातर्नयति' में 'यरोऽनुनासिके' से अनुनासिक यकार प्राप्त हैं। इसका समाधान यह है कि जो वर्ण, स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि से पूर्णतः समान होते हैं उनका ही विधान किया गया है। जो केवल स्थान या केवल प्रयत्न की दृष्टि से समान होते हैं, उनका विधान नहीं किया गया। यहाँ पर रेफ तथा णकार दोनों मूर्धा स्थान वाले हैं किन्तु दोनों का प्रयत्न भिन्न-भिन्न है। रेफ ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाला है जबकि णकार स्पष्ट प्रयत्न वाला है। अतः 'स्वर्नयति' में रेफ के स्थान पर णकार नहीं होता।

(२) भद्रह्लदः भद्रह्लदः यहां पर 'अचो रहाभ्यां०' से रेफ को द्वित्व प्राप्त है। इस सूत्र से 'यर्' को द्वित्व होता है। रेफ की गणना 'यर्' में है ही। इसका समाधान यह है कि 'अचो रहा भ्यां द्वे' सूत्र में रेफ तथा हकार द्वित्व करने में निमित्त भी हैं इसलिए स्वयं रेफ को द्वित्व नहीं होता।

(३) कुण्ड रथेन, वनं रथेन यहाँ पर 'अनुस्वारस्य ययि०' सूत्र से अनुस्वार को पर सवर्ण प्राप्त है कि 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' अनुस्वार रेफ का कोई अनुस्वार अन्तरतम सवर्ण नहीं है। अतः यहां अनुस्वार को पर सवर्ण नहीं होगा।

---

१. वर्णों के स्थान तथा प्रयत्न के लिए देखें सू० ६ पृ०

लण् ॥ ६॥

ल इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः—'अणुदित्‌ वर्णस्य चाप्रत्ययः" (अ० सू० १।१।६९) इत्यकारेण, "इण्कोः" (अ० सू० ८।२।५७) । इतीकारेण, "इको यणचि" (अ० सू० ६।१।७७) इति यकारेण । इण्ग्रहणानि सर्वाणि परेण णकारेण अण्ग्रहणानि तु पूर्वेण । "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय" (अ० सू० १।१।६९) । इत्येतदेकमनेन । अथ किमर्थमज्ग्रहणमेवैतन्न क्रियते ? नैवं शक्यम् । अन्तःस्थानामपि हि सवर्णानां ग्रहणमिष्यते—सयँ्यँ्यन्ता, सवँ्वँ्वत्सरः, यलँ्लँ्लोकम् तलँ्लँ्लोकमित्यत्रानुस्वारस्यानुनासिके ययि परसवर्णे कृते तस्य यर्ग्रहणेन ग्रहणाद् द्विर्वचनं यथा स्यादिति । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः, लकारे त्वनुनासिकः प्रतिज्ञायते । तेन "उरण् रपर" (अ० सू० १।१।५१) इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणाल्लपरत्वमपि भवति ।

वृत्त्यर्थ—ल इस एक वर्ण का उपदेश करके अन्त में णकार को प्रत्याहार के लिए इत् करते हैं । उसका ग्रहण तीन रूपों में होता है—'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' में अकार के द्वारा, 'इण्कोः' में इकार के द्वारा तथा 'इको यणचि' में यकार के द्वारा । सभी इण् प्रत्याहार परणकार अर्थात् इसी 'लण्' सूत्रस्थ णकार द्वारा बनते हैं किन्तु सभी अण् प्रत्याहार 'अ इ उ ण्' सूत्रस्थ पूर्व णकार से बनते हैं । केवल 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इस एक ही सूत्र में अण् प्रत्याहार का ग्रहण पर-णकार अर्थात् 'लण्' के णकार से होता है । प्रश्न है कि 'अणुदित्०' सूत्र में अण् के स्थान पर-अच् का ग्रहण क्यों नहीं किया जाता (अर्थात् 'अजुदित्०' सूत्र क्यों नहीं बनाया जाता) । उत्तर यह है कि अन्तस्थों (य् व् र् ल्) के द्वारा भी सवर्णों का ग्रहण इष्ट है । इसका प्रयोजन यह है कि—सयँ्यँ्यन्ता, सवँ्वँ्वत्सरः, यलँ्लँ्लोकम्, तलँ्लँ्लोकम्, यहाँ पर अनुनासिक यय् के परे रहने पर अनुस्वार को अनुनासिक परसवर्ण करने पर उसका यर् प्रत्याहार में ग्रहण होकर द्विर्वचन हो जाए । हकारादि वर्णों में अकार उच्चारणार्थक है, अनुबन्ध नहीं । लकार में अकार अनुनासिक है । इससे 'उरण् रपरः' यहां पर 'र' प्रत्याहार के ग्रहण से रपर तथा लपर दोनों का विधान होता है ।

व्याख्या—सभी स्थानों पर 'अ इ उ ण्' के आकार से वकार तक 'ण्' प्रत्याहार बनते हैं किन्तु 'अणुदित सवर्णस्य०' सूत्र में ग्रहीत 'अण्' प्रत्याहार 'लण्' सूत्र के णकार तक बनता है । प्रश्न यह है कि यहाँ पर भी अ इ उ ण्' के णकार तक ही 'अण्' प्रत्याहार का ग्रहण क्यों नहीं करते 'तथा 'अणुदित सवर्णस्थ०' सूत्र के स्थान पर 'अजुदित सवर्णस्य०' सूत्र क्यों नहीं बना लेते ? इसका उत्तर यह है कि अन्तस्थों (य् व् र् ल्) के द्वारा भी

सवर्णों का ग्रहण इष्ट है 'अण् दित०' सूत्र बनाने से वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। इसके दो प्रयोजन हैं। १— 'सम्+यन्ता' यहाँ पर 'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार करने पर 'सं+यन्ता' इस स्थिति में 'अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार को परसवर्ण तभी हो सकता है जबकि 'य' का ग्रहण 'अण्' प्रत्याहार में हो जाए क्योंकि 'अणुदित०' सूत्र द्वारा 'अण्' अपने सवर्णी वर्णों का ग्राहक होता है। 'अण् दित०' सूत्र बनाने से सिद्ध नहीं होगा। अनुस्वार को सवर्ण होकर 'सयँ्यँ्यन्ता' रूप बना। (२) अब 'अनचि च' से 'यँ्' को द्वित्व करना है। यह द्वित्व 'यर्' को द्वित्व करता है। 'य, व, ल' सानुनासिक तथा निरनुनासिक दोनों प्रकार के हैं। प्रत्याहार सूत्रों में केवल निरनुनासिकों का पाठ किया गया है, सानुनासिकों का नहीं। अतः यहाँ पर 'यँ्' को द्वित्व नहीं हो पायेगा। यदि 'य्' का ग्रहण 'अण्' प्रत्याहार में हो जाता है तो 'अणुदित०' सूत्र के अनुसार 'य्' अपने सवर्णी 'यँ्' का ग्रहण भी करा लेगा। जिससे 'यँ्' भी 'यर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आ जायेगा। इस प्रकार 'सयँ्यन्ता' में 'अनचि च' से द्वित्व होकर 'सयँ्यँ्यन्ता' इष्ट रूप बन जाएगा। इसी प्रकार सम्+वत्सर, यन्+लोकम्, तन्+लोकम् भी समझने चाहिएँ।

'ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या' वार्त्तिक के अनुसार ऋकार तथा ऌकार की सवर्ण संज्ञा होती है। 'उरण् रपरः' सूत्र द्वारा ऋकार के स्थान में होने वाले अण् को रपरत्व का विधान किया गया है। ऋकार ऌकार की सवर्ण संज्ञा होने से ऌकार के स्थान पर भी रपरत्व प्राप्त होगा किन्तु लपरत्व इष्ट है। अतः इसके समाधानार्थ 'उरण् रपरः' में 'र' प्रत्याहार का ग्रहण माना गया है। 'र' प्रत्याहार की सिद्धि 'ह य व र ट्' के रेफ से लेकर 'लण्' के अकार तक की गई है। इसीलिए 'लण्' सूत्र में अकार को अनुनासिक मानकर इत् किया गया है। इस प्रकार 'र' प्रत्याहार में र् तथा ल् दोनों वर्ण आ जाते हैं। इसीलिए काशिकाकार ने लिखा है कि हकारादि वर्णों में अकार उच्चारणार्थ है, अनुबन्ध नहीं है। लकारस्थ अकार अनुनासिक है। अतः वह 'इत्' हो कर प्रत्याहार बनाता है। इसका लाभ यह हुआ कि 'उरण् रपरः' सूत्र में रपर का अर्थ 'र (प्रत्याहार) परो यस्मात्' ऐसा करेंगे। इसका अर्थ होगा कि 'ऋ' के स्थान पर होने वाले 'अण्' से परे 'र' प्रत्याहार होता है। 'र' प्रत्याहार में 'र' तथा 'ल्' दो वर्ण हैं। अतः 'ऋ' के स्थान पर होने वाला 'अण्' रपर् हो जायेगा तथा 'ऋ' के सवर्णी 'ऌ' के स्थान पर होने वाला 'अण्' लपर हो जायेगा। इस प्रकार तव+ऌकारः यहाँ पर लपर होकर तवल्कारः बन जाता है।

विशेष—महाभाष्य में इस प्रत्याहार का कोई संकेत नहीं है। 'तुल्यास्य०' १।१।९ सूत्र पर भाष्यकार ने 'ऌकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि कहा है। भर्तृहरि

ने भाष्यदीपिका में इस भाष्य वचन के आधार पर सर्व प्रथम 'र' प्रत्याहार की कल्पना की है ।[1] कैयट भी 'रपर इत्यत्र 'र' इति लणिति लकाराकारेण प्रत्याहार आश्रीयते' कहकर 'र' प्रत्याहार बनाने के पक्ष में है। नागेश भट्ट का संकेत है कि कुछ आचार्य 'र' प्रत्याहार को पाणिनि के भाव के विरुद्ध जानकर पतञ्जलि के उक्त वाक्य का यह अर्थ लगाते हैं कि 'लृ' को स्वतन्त्र रूप में लपर कहना चाहिए ।[2] इस प्रकार नागेश के कथन से स्पष्ट है कि वैयाकरणों का एक सम्प्रदाय 'र' प्रत्याहार बनाने के पक्ष में न था ।

स्वामी दयानन्द ने अपने अष्टाध्यायी के भाष्य में 'र' प्रत्याहार का खण्डन किया है कि यह कल्पना पाणिनि तथा पतञ्जलि दोनों के भाव के विरुद्ध है । यदि पाणिनि को 'र' प्रत्याहार अभीष्ट होता तो वह 'अतो ल्रान्तस्य' ७।१।२ सूत्र में रेफ तथा लकार का पृथक् पृथक् ग्रहण न करके 'र' प्रत्याहार का ही ग्रहण करते ।

ञ म ङ ण न म् ॥७॥

ञ म ङ ण न इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते मकारमितं करोकि प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः—"पुमः खय्यम्परे' (अ० सू० (८।३।६) इत्यकारेण, 'हलो यमां यमि लोपः" (अ० सू० ८।४।६४) इति यकारेण, "ङमोह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" (अ० सू० ८।३।३२) इति ङकारेण । "ञमन्ताड्ड" इति ञकारेणापि ग्रहणमस्य दृश्यते । केचित्तु सर्वाण्येतानि प्रत्याहारग्रहणानि ञकारेण भवन्तिवति मकारमनुबन्धं प्रत्याचक्षते तथा तु सति "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" (अ० सू० ८।३।२) इत्यत्रागमिनोर्झंभोरभावादागमाभावप्रतिवत्तौ प्रतिपत्तगौरवं भवति ।

वृत्त्यर्थ— ञ म ङ ण न इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में मकार को प्रत्याहार के लिये इत् किया जाता है । इस का ग्रहण तीन सूत्रों में होता है— 'पुमः खय्यम्परे' यहां पर अकार द्वारा, 'हलो यमां यमि लोपः' यहाँ पर यकार के द्वारा तथा 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इस सूत्र में ङकार के द्वारा क्रमशः अम्, यम् तथा ङम् ये तीन प्रत्याहार बनते हैं । ञमन्ताड्डः इस सूत्र में 'ञम्' प्रत्याहार भी देखने को मिलता है । कुछ आचार्यों का विचार है कि

---

१. भाष्य दीपिका, प्रत्याहार सूत्र १।१।७ वाराणसी सं० २०२१, पृ० २८६ । वक्ष्यामि इति । व्याख्यास्यामीत्यर्थः । कथम् ? प्रत्याहारे ऽ ट् लण् इति लकारे योऽकारोऽनुनासिकः प्रतिज्ञायते ।

२. भाष्य प्रत्याहार सूत्र १।१।७ पर उद्योत
अन्ये तु लण्सूत्रस्थाकारस्यानुनासिकत्वेऽतोल्रान्तस्येत्यत्र भगवान् पाणिनिर्लकारं नोच्चारयेत् प्रत्याहारेणैव सिद्धत्वात् । तस्मादपूर्वं वचनं कार्यमिति भाष्याशयमाहुः ।

उक्त समस्त प्रत्याहार 'झ भ ञ्' के ञकार से बन जायेंगे अतः मकार अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं है। इस पक्ष में दोष यह होगा कि 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इस सूत्र में आगमी (झ भ) का अभाव होने पर आगम का अभाव भी मानना पड़ेगा। यह प्रतिपत्ति गौरव होगा।

व्याख्या—प्रतिपत्ति गौरव—यदि मकारानुबन्ध का प्रत्याख्यान कर दिया जाय तो सूत्र बनेगा—ञ म ङ ण न झ भ ञ्। इसी प्रकार दूसरा सूत्र 'ङमो ह्रस्वादचि ङञुण्नित्यम्' बनाना पड़ेगा। ङञ् में झ् तथा भ् की भी गणना होगी किन्तु कहीं पर भी पदान्त में झ् तथा भ् वर्ण नहीं हैं। इस प्रकार 'ङ् ण् न्' में तीन आगमी तथा 'ङ् ण् न् झ् भ्' ये पाँच आगम प्राप्त हुए। क्योंकि झ् तथा भ् कहीं पर भी पदान्त में नहीं है अतः यह मानना पड़ेगा कि इनके आगमी झ् तथा भ् कहीं पर भी नहीं होंगे। इस प्रकार दीर्घ बुद्धि व्यापार करना पड़ता है। यही प्रतिपत्ति गौरव कहलाता है। भाष्य में मकारानुबन्ध का खण्डन किया गया है। प्रतीत होता है कि यहाँ पर 'केचित्' पद से काशिकाकार का संकेत भाष्यकार की ओर ही है। यहाँ पर काशिका पर चान्द्र व्याकरण का प्रभाव लक्षित होता है। चान्द्र व्याकरण भी मकारानुबन्धन के खण्डन के पक्ष में नहीं है 'केचित्तु सर्वाण्येतानि…… प्रतिपत्तिगौरवं स्यात्' इन पंक्तियों की वर्णानुपूर्वी भी चान्द्रव्याकरण तथा काशिका में समान है। मकारानुबन्ध का खण्डन सूत्रकार के भाव के अनुकूल भी प्रतीत नहीं होता है।

झ भ ञ् ॥८॥

झ भ इत्येतौ वर्णावुदिश्य पूर्वाश्चान्ते ञकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन 'अतो दीर्घो यञि' ७.२.१.१ इति यकारेण।

वृत्यर्थ—झ तथा भ इन दो वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार बनाने के लिए ञकार को इत् करते हैं। इसका ग्रहण 'अतो दीर्घो यञि' सूत्र में यञ् प्रत्याहार द्वारा होता है।

घ ढ ध ष् ॥९॥

घ ढ ध इत्येतात् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते षकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति द्वाभ्याम् 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' ८.२.३७ इति झकारभकारभ्याम्।

वृत्यर्थ—घ ढ ध इन वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार बनाने के लिए षकार को इत् करते हैं। इसका ग्रहण दो प्रत्याहारों से होता है। 'एकाचो बशो०' सूत्र में 'झष्' तथा 'भष्' प्रत्याहार द्वारा।

ज ब ग ड द श् ॥१०॥

ज ब ग ड द इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते शकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः—"भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि'

(अ० सू० ८३।७) इति अकारेण, "हशि च" (अ० सू० ६।३।११४) इति हकारेण 'नेड्वशि कृति" (अ० सू० ७।२।८) इति वकारेण, "झलां जश् झशि" (अ० सू० ८।४।५३) इति जकारझकाराभ्याम् 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः" (अ० सू० ८।२।३७) इति बकारेण ।

वृत्यर्थ—ज ब ग ड द वर्णों का उपदेश करके शकार को प्रत्याहार के लिए इत् किया है । इसका ग्रहण ६ प्रत्याहारों में होता है—'भो भगो अघो-अपूर्वस्य योऽशि' में अकार से, 'हशि च' में हकार से, 'नेड्वशि कृति' में वकार से, 'झलां जश् झशि' जकार झकार से तथा 'एकाचो बशो भश् झषन्तस्य स्ध्वोः' सूत्र में बकार द्वारा । इस प्रकार क्रमशः अश्, हश्, वश्, जश्, झश् तथा बश् ये छः प्रत्याहार बनते हैं ।

ख फ छ ठ थ च ट त व् ।।११।।

ख फ छ ठ थ च ट त् इत्येतान् वर्णानुपदिश्यान्ते वकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन । नश्छव्यप्रशान्' इति छकारेण । ख फ ग्रहणमुत्तरार्थम् ।

वृत्यर्थ—खकारादि वर्णों का उपदेश करके वकार को प्रत्याहार बनाने के लिए इत् किया है । इसका ग्रहण केवल एक के द्वारा होता है—'नश्छव्य-प्रशान्' सूत्र में छकार द्वारा । इस सूत्र में पठित ख तथा फ वर्णों का यहाँ पर कोई उपयोग नहीं होता है क्योंकि यहाँ पर इससे कोई प्रत्याहार नहीं बनता है । अतः ख तथा फ का ग्रहण उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिए है ।

क प य् ।।१२।।

वृत्यर्थ—क प इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते यकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति यकारेण, 'मय उञो वो वा' इति मकारेण, झयो होऽन्यतरस्याम्' इति झकारेण 'पुमः खय्यम्परे' इति खकारेण ।

क तथा प का उपदेश करके अन्त में यकार को प्रत्याहार के लिए इत् किया गया है । इसका ग्रहण चार के द्वारा होता है । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' यकार के द्वारा 'मय उञो वो वा' में मकार के द्वारा 'झयो होऽन्यतरस्याम्' में झकार के द्वारा तथा 'पुमः खय्यम्परे' खकार द्वारा ।

श ष स र् ।।१३।।

श ष स इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते रेफमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः—"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (अ० सू० ८।४।४५(४५) इति यकारेण, "झरो झरि सवर्णे" (अ० सू० ८।४।६५) इति झकारेण, "खरि च" (अ० सू० ८।४।५५) इति खकारेण, अभ्यासे चर्च" (अ० सू० ८।४।५४) इति चकारेण, "शर्पूर्वाः खयः" (अ० सू० ७।४।६१) इति शकारेण ।

वृत्यर्थ—श ष स वर्णों का उपदेश करके अन्त में प्रत्याहार के लिए रेफ को इत् करते हैं। उसका ग्रहण पांच प्रत्याहारों द्वारा होता है। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' सूत्र में यकार से 'झरो झरि सवर्णे' में झकार द्वारा 'खरि च' सूत्र में खकार द्वारा, 'अभ्यासे चर्च' सूत्र में चकार द्वारा तथा 'शर्पूर्वाः खयः' में शकार के द्वारा।

हल् ॥१४॥

ह इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते लकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः—"अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा" (अ० सू० १।१।६५) इति अकारेण, "हलोऽनन्तराः संयोग" (अ० सू० १।१।७) इति हकारेण, "लोपो व्योर्वलि" (अ० उ० ६।१।७६) इति वकारेण, रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च" (अ० सू० १।२।३६) इति रेफेण, "झलो झलि" (अ० सू० ८।३।१६) इति झकारेण, 'शल इगुपधादनिटः क्स' (अ० सू० ३।१।४५) इति शकारेण। अथ किमर्थमुपदिष्टोऽपि हकारः पुनरुपदिश्यते ? कित्त्वविकल्पक्सेड्विधयो यथा स्युरिति। स्निहित्वा स्नेहित्वेति "रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च" (अ० सू० १।२।२६) इति कित्त्वं वा यथा स्यात्। लिहेरलिक्षदिति "शल इगुपधादनिटः क्सो क्सः" (अ० सू० ३।१।४५) इति यथा स्यात्। रुदिहि, स्वपिहीति वलादिलक्षण इड्यथा स्यात्। अदाग्धाम् झल् ग्रहणेषु च हकारस्य ग्रहणं यथा स्यात्, यद्येवं ह य व र डित्यत्र किमर्थमुपदिश्यते ? महाँ हि सः, इत्यत्राड्ग्रहणेषु च ग्रहणं यथा स्यात्। "हशि च अ० सू० ६।१।११) इति हकारस्य ग्रहणं यथा स्यात्—ब्राह्मणो हसति। 'हशि' च" (अ० सू० ६।१।११४) इति उत्वं यथा स्यात्।

एकस्मान् ङञणवटा द्वाभ्यां षस्त्रिभ्य एव कणमाः स्युः।
ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यो रः पञ्चभ्यः शलौ षड्भ्यः॥ इति॥

वृत्यर्थ—हकार का उपदेश करके लकार को प्रत्याहार के लिए इत् किया जाता है। इसका ग्रहण ६ के द्वारा होता है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' में अकार के द्वारा, 'हलोऽनन्तरा संयोगः' में हकार के द्वारा, 'लोपो व्योर्वलि' में वकार के द्वारा, 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' में रेफ के द्वारा, 'झलो झलि' में झकार के द्वारा तथा 'शल इगुपधादनिटः क्सः' में शकार के द्वारा। 'ह य व र ट्' सूत्र में पहले भी हकार का उपदेश किया जाता है। प्रश्न है कि यहाँ पर पुनः हकार का पाठ क्यों किया गया है। कित्व विकल्प, क्स, इट्, तथा झल् विधि करने के लिए यहाँ हकार का पुनः पाठ किया गया है। यथा—स्निहित्वा, स्नेहित्वा यहाँ पर 'रलोव्युपधाद्धलादेः संश्च' सूत्र में 'शल इगुपाधादनिटः क्सः' से 'क्स' प्रत्यय हो जाए। 'रुदिहि, स्वपिहि' यहाँ

पर वलादि लक्षण से 'इट्' हो जाए तथा 'अदाग्धाम्' यहाँ के लिए 'झल्' प्रत्याहार में भी हकार का ग्रहण हो जाए। यदि 'हल्' सूत्रस्थ हकार के ये प्रयोजन हैं तो 'हयवरट्' सूत्र में हकार का पाठ क्यों किया गया है। 'महां हि सः' यहां पर 'अट्' तथा 'अश्' प्रत्याहारों में भी हकार का ग्रहण हो जाए। 'हश्' प्रत्याहार में भी हकार का ग्रहण हो जाए जिससे 'ब्राह्मणो हसति' में 'हशि च' से उत्व हो जाए। इसलिए 'हय व र ट्' सूत्र में हकारोपदेश किया है।

कारिकार्थ—ङ ञ ण व ट से एक-एक प्रत्याहार बनता है। षकार से दो, ककार, णकार, मकार से तीन-तीन, चकार तथा यकार से चार-चार, रेफ से पांच, शकार तथा लकार से छ-छ प्रत्याहार बनते हैं।

व्याख्या—यद्यपि 'ह य व र ट्' सूत्र में भी हकार का पाठ किया गया है पुनरपि 'हल्' सूत्र में हकार का उपदेश इसलिए किया गया है जिससे स्निहित्वा आदि रूपों की सिद्धि हो जाए। इसके स्निहित्वा, स्नेहित्वा आदि चार प्रयोजन हैं। (१) 'हल्' सूत्र में हकार का पाठ करने से 'रल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत हकार आ जाता है जिससे 'स्निह्+क्त्वा' इस अवस्था में 'रलो व्युपधात्' सूत्र द्वारा 'क्त्वा' प्रत्यय विकल्प से कित् बन जाता है। कित् पक्ष में 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर स्नेहित्वा तथा अकित् पक्ष में गुणनिषेध होकर 'स्निहित्वा' ये दो रूप बनते है।

(२) अलिक्षत् = लिह् + लुङ्
लुङ्लङ् लृङ्क्ष्वड्उदात्तः—अट् + लिह् + लुङ्
च्लि लुङि—अ + लिह् + च्लि तिप्
शल इगुपधादनिटः० अ + लिह + क्स + ति
इतश्च —अ + लिह् + स + त्
होढः—अ + लिढ् + स + त्
षढोः कः सि—अ + लिक् + स + त्
इण्कोः, आदेशप्रत्यययोः—अलिक्षत् = अलिक्षत्
'हल्' में हकारोपदेश होने से 'शल्' प्रत्याहार में हकार का ग्रहण होकर यहाँ पर 'क्स' हो जाता है।

(४) अदाग्धाम् = दह् + लुङ्
अट् + दह् + तस्
च्लि लुङि, अ + दह् + च्लि + तस्
च्लेःसिच् — अ + दह + सिच् + तस्
तस्थस्थमिपां० —अ + दह् + स् + ताम्
झलो झलि—अ + दह् + ताम्
वदव्रज हलन्तस्याचः —अ + दाह् ताम्
दादेर्धातोर्घः—अ + दाघ् + ताम्
झलां जश् झशि—अ + दाग् + धाम्
झषस्तथोर्धोऽधः — अ + दाग् + धाम्
= **अदाग्धाम्**

(३) रुदिहि, स्वपिहि
रुद्+सिप्
सेर्ह्यपिच्च—रुद्+हि
आर्धधातुकस्येड्०—रुद्+इट्+हि=रुदिहि
इसी प्रकार स्वप्+इट्+हि=स्वपिहि
वल् प्रत्याहार में हकार का ग्रहण होकर यहाँ वलादि लक्षण इट् हो जाता है।

झल् प्रत्याहार में हकार का ग्रहण होकर यहाँ 'झलो झलि' से सकार लोप हो गया। इस प्रकार ये चार प्रयोजन 'हल्' सूत्र में हकारोपदेश के हैं।

हयवरट् सूत्र में हकार ग्रहण के प्रयोजन निम्न हैं—

(२) महां हि सः=महान् हि सः
दीर्घादटि समानपदे—महा रु हि सः
आतोऽटि०—महाँ रु हि सः

उपदेशेऽजनुनासिक० महाँ र् हि सः
भोभगोऽघोऽपूर्वस्य०—महाँ य् हि सः
हलि सर्वेषाम्—महाँ हि सः

हयवरट् सूत्र में हकार का पाठ होने से अट् तथा 'अश्' प्रत्याहारों में हकार का ग्रहण होकर यह रूप सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त हश् प्रत्याहार में हकार का ग्रहण होने से 'ब्राह्मणो हसति' में 'हशि च' से उत्व हो जाता है। इस प्रकार दोनों स्थानों पर हकारोपदेश उचित है।

प्रत्याहारदर्शक तालिका

प्रत्याहार	कहां से कहाँ तक	प्रत्याहार में आने वाले वर्ण
१. अण्	सू० १ के अ से ण् तक	अ इ उ
२. अक्	" १ " अ " सू० २ तक	अ इ उ ऋ ऌ
३. अच्	" १ " अ " " ४ तक	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
४. अट्	" १ " अ " " ५ तक	सभी स्वर तथा ह य व र
५. अण्	" १ " अ " " ६ तक	सभी स्वर तथा ह य व र ल
६. अम्	" १ " अ " " ७ तक	सभी स्वर तथा ह य व र ल ञ म ङ ण न
७. अश्	" १ " अ " " १० तक	'अम्' प्रत्याहार के सभी वर्ण तथा झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द
८. अल्	" १ " अ " " १४ तक	सभी अच् तथा सभी व्यञ्जन
९. इक्	" १ " इ " " २ तक	इ उ ऋ ऌ

१०. इच्	" १ " इ " " ४ तक	इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ
११. इण्	" १ " इ " " ६ तक	इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह यव र ल
१२. उक्	" १ " उ " " २ तक	उ ऋ लृ
१३. एङ्	" ३ " ए " " ३ तक	ए ओ
१४. एच्	सू० ३ के ए सू० के ४ तक	ए ओ ऐ औ
१५. ऐच्	" ४ " ऐ " " ४ तक	ऐ औ
१६. हश्	" ५ " ह " " १० तक	ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द
१७. हल्	" ५ " ह " " १४ तक	स्वरों को छोड़कर सभी व्यञ्जन
१८. यण्	" ५ " य " " ६ तक	य व र ल
१९. यम्	" ५ " य " " ७ तक	य व र ल ञ म ङ ण न
२०. यञ्	" ५ " य " " ८ तक	य व र ल ञ म ङ ण न झ भ
२१. यय्	" ५ " य " " १२ तक	य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध
२२. यर्	" ५ " य " " १३ तक	ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प
२३. वश्	" ५ " व " " १० तक	व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द
२४. वल्	" ५ " व " " १४ तक	'वश्' प्रत्याहार के सभी वर्ण तथा ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह
२५. रल्	" ५ " र " " १४ तक	व को छोड़कर 'वल्' प्रत्याहार के सभी वर्ण
२६. मय्	" ७ " म " " १२ तक	म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प
२७. ङम्	" ७ " ङ " " ७ तक	ङ ण न
२८. झष्	" ८ " झ " " ९ तक	झ भ घ ढ ध
२९. झश्	" ८ " झ " " १० तक	झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द
३०. झय्	" ८ " झ " " १२ तक	झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क य
३१. झर्	" ८ " झ " " १३ तक	'झय्' प्रत्याहार के सभी वर्ण
	" ८ " झ " " १४ तक	तथा श ष स
३२. झल्	" ८ " झ " " ९ तक	'झल्' प्रत्याहार के सभी वर्ण तथा ह
३३. भष्	" ८ " भ " " ९ तक	भ घ ढ ध

३४. जश्	सू. १० के ज से सू. १० तक	ज ब ग ड द
३५. बश्	" १० " ब " " १० तक	ब ग ड द
३६. खय्	" ११ " ख " " १२ तक	ख फ छ ठ थ च ट त क प
३७. खर्	" ११ के ख से सू० १३ तक	ख फ च ठ थ छ ट त क प श ष स
३८. छव्	" ११ " छ " " १३ तक	छ ठ थ च ट त
३९. चय्	" ११ " च " " १२ तक	च ट त क प
४०. चर्	" ११ " च " " १३ तक	च ट त क प श ष स
४१. शर्	" १३ " श " " १३ तक	श ष स
४२. शल्	" १३ ' श " " १४ तक	श ष स ह्

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः

वृद्धिरादैच् ॥१॥

वृद्धिशब्दः संज्ञात्वेन विधीयते प्रत्येकमादैचां वर्णानां सामान्येन तद्भावितानामतद्भावितानां च। तपरकरणमैजर्थं तादपि परस्तपर इति, खट्वैडकादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्रप्रसङ्गनिवृत्तये। आश्वलायनः। ऐतिकायनः। औपगवः औपमन्यवः। शालीयः। मालीयः। वृद्धिप्रदेशाः--'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (अ० सू० ७।२।१) इत्येवमादयः।

वृत्त्यर्थ—सामान्य रूप से तद्भावित तथा अतद्भावित आकार ऐकार तथा औकार वर्णों में प्रत्येक की वृद्धि संज्ञा होती है। तपरकरण 'ऐच्' के लिए है। तकार से जो परे है, वह भी तपर होता है। खट्वैडका आदि प्रयोगों में त्रिमात्रा तथा चतुर्मात्रा की प्रसक्ति की निवृत्ति के लिए तपर ग्रहण किया है। तद्भावितों के उदाहरण—आश्वलायनः, ऐतिकायनः, औपगवः, औपमन्यवः। अतद्भावितों के उदाहरण—शालीयः, मालीयः। वृद्धि संज्ञा के चरितार्थक स्थल 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' आदि सूत्र हैं।

व्याख्या—पाणिनीय सूत्रों के छः प्रकार हैं—संज्ञा-सूत्र,[1] परिभाषा-सूत्र,[2] विधि-सूत्र,[3] नियम-सूत्र,[4] प्रतिषेध-सूत्र,[5] तथा अधिकार-सूत्र।[6]

जैसा कि कहा गया है—संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते ॥

---

१. जैसे—वृद्धिरादैच्, अदेङ् गुणः १।१।१-२।
२. ,, इको गुणवृद्धी १।१।३
३. ,, तपरस्तत्कालस्य १।१।७०।
४. ,, कर्मण्यण् ३.२.१
५. ,, क्ङिति च १।१।५
६. ,, धातोः ३।१।१।

प्रस्तुत सूत्र संज्ञा सूत्र है। 'वृद्धिरादैच्' में वृद्धि' शब्द का प्रयोग 'आदैच्' के पश्चात् तथा उद्देश्य होने से 'आदैच्' पद का प्रयोग 'वृद्धि' पद के पहले होना चाहिए था। जैसाकि कहा भी गया है—'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' अर्थात् उद्देश्य के कहे विना विधेय को न कहे। यहाँ पर पाणिनि मुनि ने वृद्धि शब्द का पहले प्रयोग मङ्गल के लिए किया है। पतञ्जलि मुनि ने भी ऐसा ही कहा है 'मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते' अर्थात् जिन शास्त्रों के आदि-मध्य तथा अन्त में मङ्गल किया जाता है, वे वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वृत्तिकार ने लिखा है—वृद्धि शब्द का संज्ञा के रूप में विधान किया गया है। यदि यहाँ पर वृत्तिकार 'शब्द' का प्रयोग न करते तो वृद्धि के अर्थ=वर्द्धन=बढने में भी संज्ञात्व की भ्रान्ति हो सकती थी।

सूत्र के 'आ, ऐ, औ' ये तीनों वर्ण तपर हैं। तपर का विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है। (१) तपरो यस्मात् स तपरः। इस अर्थ में 'आ' तपर है। (२) तात् परः स तपरः—अर्थात् 'त' से परे जो वर्ण हैं, वह भी तपर होता है। इस दृष्टि से 'ऐ' तथा 'औ' भी तपर हैं क्योंकि ये भी (वृद्धिः आत् ऐच्) तकार से परे हैं। तपर वर्ण तत्काल वाले अर्थात् अपने समान काल वाले वर्णों का ग्रहण कराता है, अपने से भिन्न काल वाले वर्णों का नहीं। आकार के लिए तपर करना व्यर्थ है क्योंकि 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' १।१।६९ सूत्र द्वारा अण् प्रत्याहार तथा उदित वर्ण ही अपने सवर्णी वर्णों के ग्राहक होते हैं, शेष कोई नहीं। आकार का पाठ प्रत्याहार सूत्रों में तथा अण प्रत्याहार में नहीं है। अतः आकार तो अपने सवर्णी अकार का ग्रहण करा ही नहीं सकता। प्रश्न है कि प्लुत आ३कार का भी आकार से ग्रहण होने लगता। ऐसा न हो इस लिए आकार को तपर किया है। इसका उत्तर यह है कि सूत्र में द्विमात्रिक आकार का पाठ होने के कारण ही वह त्रिमात्रिक का ग्रहण नहीं करा सकता था। अन्यथा सूत्र में द्विमात्रिक के स्थान पर भा एकमात्रिक अकार 'वृद्धिः अत् ऐच्' ऐसा पद देते। यह अकार ही द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक का ग्रहण कर लेता। सूत्रकार ने ऐसा नहीं पढा है, अतः इससे यही सिद्ध होता है कि तपर किए विना भी आकार केवल द्विमात्रिक का ही ग्राहक होता। अतः वृत्तिकार ने लिखा है—तपरकरणमैजर्थम्। अर्थात् तपर का प्रयोजन 'ऐ' तथा 'औ' के लिए है। जिससे वृक्ष+ओदन यहाँ पर त्रिमात्रिक औकार की तथा खट्वा+ऐडका में चतुर्मात्रिक ऐकार की प्राप्ति निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि द्विमात्रिक की ही वृद्धि संज्ञा की गई है अतः दोनों के स्थान पर द्विमात्रिक औकार तथा द्विमात्रिक ऐकार ही होते हैं।

तद्भावित वृद्धिसंज्ञक वर्ण वे हैं जिनमें पहले वृद्धि नहीं थी किन्तु बाद में किसी निमित्त से वृद्धि हो जाती है। यथा—औपगवः, आश्वलायनः

आदि। अतद्भावित वृद्धिसंज्ञक वर्ण वे हैं जो स्वतः वृद्ध हैं, किसी अन्य निमित्त से वृद्ध नहीं बने हैं। यथा-शाला, माला। इनकी वृद्धि संज्ञा होने के कारण इनसे 'छ' प्रत्यय होकर शालीयः, मालीयः रूप बन जाते हैं।

आश्वलायनः = अश्वलस्यापत्यं पुमान्
नडादिभ्यः फक्—अश्वल + फ
यस्येति च—अश्वल + फ
किति च—आश्वल् + फ
आयनेयीनीयियः०—आश्वल् + आयन् + अ
आश्वलायन + सु = आश्वलायनः
इसी प्रकार ईतिकस्यापत्यं पुमान् ऐतिकायनः।

औपगवः—उपगोरपत्यं पुमान्।
प्राग्दीव्यतोऽण्— उपगु + अण्
तद्धितेष्वचामादेः—औपगु + अ
एचोऽयवायावः—औपगव् + अ
औपगव + सु = औपगवः
इसी प्रकार उपमन्योरपत्यं पुमान् = औपमन्यवः। यहाँ पर उपमन्यु शब्द से 'अनृष्यानन्तर्ये०' से अञ् प्रत्यय होगा अण् नहीं।

ये चारों उदाहरण तद्भावित वृद्धि के हैं। इनमें पहले से वृद्धि नहीं थी। 'आश्वलायनः, ऐतिकायनः' में 'किति च' से वृद्धि की गयी है तथा 'औपगवः, औपमन्यः' में 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र द्वारा वृद्धि की गयी है। आदि वृद्धि होकर 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद वृद्धम्' सूत्र से वृद्ध संज्ञा बनकर 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय प्राप्त हो जाता है। यदि अतद्भावितों की ही वृद्धि संज्ञा की जाती तो यहाँ पर वृद्धि संज्ञा प्राप्त न हो पाती।

अतद्भावितों के उदाहरण—शालीयः, मालीयः। मालायां भव मालीयः
शालीयः = शालायां भवः

तत्र भव, वृद्धाच्छः—शाला + छ।
यस्येति च—शाल् + छ
आयनेयीनीयियः—शाल् + ईय् + अ
= शालीय + सु = शालीयः

शाला माला शब्द स्वाभाविक रूप में पहले से ही वृद्धि से युक्त थे किसी निमित्त से इनमें वृद्धि नहीं की गई है।

अदेङ् गुणः ॥२॥

गुणशब्दः संज्ञात्वेन विधीयते प्रत्येकमदेङां वर्णानां सामान्येन तद्भाविता-नामतद्भावितानां च। तपकरणं त्विह सर्वार्थम् तरिता। चेता। स्तोता। पचन्ति। जयन्ति। अहं पचे। गुणप्रदेशाः—मिदेर्गुणः ७।३।७१ इत्येवमादयः।

वृत्यर्थ—सामान्य रूप से तद्भावित तथा अतद्भावित 'अ' तथा एङ्= (ए, ओ) में से प्रत्येक की गुणसंज्ञा का विधान किया गया है। सूत्र में तपरकरण सर्वार्थ अर्थात् 'अ, ए, ओ' तीनों वर्णों के लिए है। तद्भावित के उदाहरण—तरिता, चेता, स्तोता। अतद्भावित के उदाहरण—पचन्ति, जयन्ति, अहं पचे। गुणसंज्ञा के विधायक सूत्र 'मिदेर्गुणः' इत्यादि हैं।

व्याख्या—सूत्र में 'अ' को तपर किया गया है किन्तु 'तः परो यस्मात् सः तपरः' तथा 'तादपि परस्तपरः' इस विग्रह के अनुसार 'अ, ए, ओ' तीनों ही वर्ण तपर हैं। ये तीनों वर्ण 'अण्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं। अतः 'अणुदित सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्रानुसार तीनों वर्ण अपने सवर्णों का ग्रहण करायेंगे किन्तु तपर होने के कारण 'अ, ए, ओ' अपने समानकालिक वर्णों का ही बोध कराते हैं, भिन्न कालिकों का नहीं। ये तीनों वर्ण एकमात्रिक हैं अतः एकमात्रिक सवर्णों का ही बोध कराते हैं, द्विमात्रिक या त्रिमात्रिक का नहीं।

तरिता—√तॄ
ण्वुल्तृचौ—तॄ+तृच्
सार्वधातुकार्धधातुकयोः
उरण् रपरः
तॄ—अर्+तृ
आर्धधातुकस्येड्०— तर्+इट्+तृ=तरि तृ।
तरितृ+सु=तरिता
इसी प्रकार √चिञ् तथा √स्तुञ् से चेता स्तोता बनेंगे। ये तीनों उदाहरण तद्भावितों के हैं अर्थात् यहाँ पर सूत्रों द्वारा गुण किया गया है।

पचन्ति √पच्+झि
कर्त्तरि शप्—पच्+झि
झोऽन्तः—पच्+अ+अन्त्+इ
अतो गुणे—पचन्त्+इ=पचन्ति
इसी प्रकार √जि+शप्+झि
इस अवस्था में सार्वधातुकार्ध०
से गुण होकर जयन्ति।
पचे—पच्+शप्+इट् (आत्मनेपद)
पच्+अ+इ
टित आत्मने०—पच+ए

अतो गुणे—पचे।
ये अतद्भावितों के उदाहरण हैं

इको गुणवृद्धी ॥३॥

वृत्ति—परिभाषेयं स्थानियिमार्था। अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते। वृद्धिगुणौ स्वसंज्ञया शिष्यमाणाविक एव स्थाने वेदितव्यौ। वक्ष्यति-"सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः" (अ० सू० ७।३।८४) अङ्गस्य गुण इति। स इक एव स्थाने वेदितव्यः। तरति। नयति। भवति। वृद्धिः खल्वपि—अकार्षीत्, अहार्षीत्, अचैषीत्, अलावीत्, अस्तावीत्। गुणवद्धी स्वसंज्ञया विधीयेते. तत्र 'इक' इति एतदुपस्थितं द्रष्टव्यम्। किं कृतं भवति। द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते। मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्वङ्गेनेग्विशिष्यते—भेद्यते, अबिभयुः। इक इति किम्? आत्सन्ध्यक्षरव्यञ्जनानां मा भूत्—यानम्

ग्लायति। उम्भिता। पुनर्गुणवृद्धिग्रहणं स्वसंज्ञया विधाने नियमार्थम्। इह मा भूत्—द्यौः, पन्थाः, सः, इवमिति।

वृत्त्यर्थ—यह परिभाषा स्थानी के नियम के लिए है। अनियम का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर नियम का विधान किया जाता है। गुण तथा वृद्धि का जहां पर अपनी संज्ञा से (गुण तथा वृद्धि नाम लेकर) विधान किया गया हो वहां पर ये 'इक्' के स्थान पर ही होते हैं। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ७।३।८४ से अङ्ग को गुण होता है। वह गुण 'इक्' के स्थान में ही जानना चाहिए। गुण के उदाहरण—तरति, नयति, भवति। वृद्धि के उदाहरण—अकार्षीत्, अहार्षीत, अनैषीत्, अलावीत्, अस्तावीत्। जहाँ पर गुण तथा वृद्धि का अपनी संज्ञा से विधान किया जाता है, वहां 'इक्' यह उपस्थित समझना चाहिए। इससे क्या लाभ होता है ? दूसरी षष्ठी प्रादुर्भूत हो जाती है। जिससे √मिद्, √मृज् पुगन्त, लघूपध, √ऋच्छ्, √दृश्, क्षिप्र तथा क्षुद्र शब्दों में 'अङ्ग' के द्वारा 'इक्' विशेषण बनता है। 'जुसि च तथा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' आदि सूत्रों से गुण प्राप्त होने पर 'इक्' के द्वारा 'अङ्ग' विशेषित किया जाता है। अर्थात् 'इक्' विशेषण बनता है तथा 'अङ्ग' विशेष्य बन जाता है। जैसे—मेद्यते, अबिभयुः। सूत्र में 'इकः' यह क्यों कहा है ? इसलिए कि जिससे आकार, सन्ध्यक्षर (ए, ऐ, ओ, औ) तथा व्यंञ्जनों के स्थान पर गुण वृद्धि न हो जाए। जैसे—यानम्, ग्लायति उम्भिता। सूत्र में गुण-वृद्धि पदों का ग्रहण अपनी संज्ञा के द्वारा विधान होने पर नियम के लिए किया गया है। अर्थात् जहाँ 'गुण' 'वृद्धि' पदों द्वारा गुण तथा वृद्धि का विधान किया जाए, वहीं पर वे 'इक्' के स्थान पर हों, अन्यत्र नहीं। यथा—द्यौः, पन्थाः, सः, इमम्।

व्याख्या—यह परिभाषा सूत्र है। इस सूत्र द्वारा नियम बनाया जाता है कि जहाँ पर किसी सूत्र द्वारा गुण तथा वृद्धि का विधान किया जाए, वहां पर ऐसा समझना चाहिए कि ये गुण वृद्धि, इक् के स्थान पर ही होंगे। यथा—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र द्वारा सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर अङ्ग को गुण का विधान किया गया है। 'इको गुण-वृद्धी' सूत्र नियम बनाता है कि वह गुण अङ्ग के 'इक्' के स्थान में गुण होकर उक्त रूप बनते हैं। वृद्धि के उदाहरण—अकार्षीत्, अहार्षीत् आदि हैं।

अकार्षीत्=कृ+लुङ्
लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व०—अट्+कृ+ति
च्लिलुङि,च्लेःसिच्—अ+कृ+सिच्+ति

अस्तावीत्=स्तू+लुङ्
अट्+स्तु+तिप्
अ+स्तु+सिच्+ति

सिचिवृद्धिः०—अ + कार् + सि +
+ ति
अकृतसार्वधातु०—अकार् सीति
आदेश प्रत्यययोः—अकार्षीति
इतश्च—अ कार्षीत्।

इसी प्रकार √हृञ् से अहार्षीत्
√चिञ् से अचैषीत् तथा
√निञ् से अनैषीत् रूप बनेंगे

अ + स्तौ + सि + ति
आर्धधातुकस्येड्० अ + स्तौ + इट्
+ स् + त्
अस्तिसिचोऽपृक्ते— अस्तौ + इ
+ स् + ईट् + त्
इट ईटि—अ स्तौ + ई + त्
एचोऽयवायावः—अस्ताव् ई त्
=**अस्तावीत्**
इसी प्रकार √लूञ् से अलावीत्

जहाँ पर गुण तथा वृद्धि का अपनी संज्ञा से अर्थात् नाम लेकर विधान किया जाए, 'इकः' यह षष्ठयन्त पद उपस्थित समझना चाहिए। इस प्रकार षष्ठी विभक्ति प्राप्त हो जाती है। यथा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र गुण का विधान करता है। इस सूत्र में 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। इसके साथ ही 'इकः' यह षष्ठयन्त पद भी उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार से 'अङ्गस्य' तथा 'इकः' इन दो षष्ठी विभक्तियों के आधार पर सूत्र का अर्थ हुआ कि सार्वधातु क तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर इगन्त अङ्ग को गुण हो जाए।

√मिद्, √मृज्, पगन्त्लघूपध, √ऋच्छ, √दृश्, क्षिप्र तथा क्षुद्र शब्दों में अङ्ग के द्वारा 'इक्' की विशेपता बतलाई जाती है। यथा—मृजेर्वृद्धिः' ७।२।११४ सूत्र का अर्थ है कि √मृज् के अङ्ग को वृद्धि हो। वह वृद्धि अङ्ग को कहां पर हो? इसके लिए यहां पर 'इकः' यह षष्ठन्त पद उपस्थित होता है। जिससे सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनेगा √मृज् के अङ्ग के 'इक्' को वृद्धि हो। इस प्रकार यहाँ पर 'इक्' का विशेषण 'अङ्ग' बन जाता है। इसी प्रकार पुगन्त-लघूपध आदि में भी समझना चाहिए।

यथा—**मेद्यते**। मिद् + त (आत्मनेपद)
दिवादिभ्यः श्यन्—मिद् + श्यन् + त
मिदेर्गुणः—मेद् + य + त
टित आत्मने पदानां०—मेदयते = मेद्यते

'जुसि च' 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यादि सूत्रों से गुण विधान करने में 'इक्' के द्वारा 'अङ्ग' की विशेषता बतलाई जाती है। इक् विशेषण बनता है तथा अङ्ग उसका विशेष्य। इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह बनता है—'जुस्' परे रहने पर इगन्त अङ्ग को गुण हो। यथा—अबिभयुः।

अबिभयुः = भी + लङ्
अट् + भी + झि

सिजभ्यस्त०—अ+भी+जुस्
जुहोत्यादिभ्यः श्लुः, श्लौ—अ+भी+भी+जुस्
हलादिः शेषः, अभ्यासे चर्च—अ+बी+भी+उस्
ह्रस्वः—अबिभी+उस्
जुसि च—अ बि भे+उस्
एचोऽयवायवः—अबिभय्+उस्=अबिभयुस् ।
रुत्व विसर्गं=अबिभयुः ।

सूत्र में 'इक्' पद का ग्रहण इसलिए किया गया है कि जिससे आकार, सन्ध्यक्षर (ए, ऐ, ओ, औ) तथा व्यञ्जनों के स्थान पर गुणवृद्धि न हों, इक् के स्थान पर ही हों । यथा—यानम्, ग्लायति, उम्भिता ।

यानम्=या+ल्युट् (यु)
युवोरनाकौ=या+अन
अकः सवर्णे दीर्घः—यान
यान+सु=
अतोऽम्—यान+अम्
अमिपूर्वः—यानम्
यदि सूत्र में 'इक्' ग्रहण करते तो आकार के स्थान पर भी 'अ' गुण होकर 'य+अन' इस अवस्था में 'अतो गुणे' से पूर्वरूपहोकर 'यनम्' यह अशुद्ध रूप प्राप्त होता ।

उम्भिता उम्भ्+तिप् (लुट्)
स्यतासी लृलुटोः—उम्भ्+तास्+तिप् ।
लुटः प्रथमस्य डा रौ रसः—उम्भ्—तास्+डा
चुटू—उम्भ्+तास्+आ
आर्धधातुकस्येड्वलादेः—उम्भ्+इट्+तास्+आ
टेः— उम्भ्+इ+त्+आ=उम्भिता
यदि सूत्र में इक् ग्रहण न करते तो 'उम्भ्+इट्' इस अवस्था में 'भ' को भी गुण प्राप्त हो जाता । जिससे अनिष्ट रूप प्राप्त होता ।

ग्लायति=ग्लै+तिप्
कर्त्तरि शप्—ग्लै+शप्+तिप्
लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्—ग्लै+अ+ति
एचोऽयवायावः—ग्लाय्+अ+ति=ग्लायति ।

यदि सूत्र में 'इक्' ग्रहण न करते को 'ग्लै+शप्' इस अवस्था में 'ऐ' के स्थान पर भी 'ए' गुण प्राप्त होकर अनिष्ट रूप बनता ।

इस सूत्र में 'वृद्धिरादैच्' सूत्र से वृद्धि की, तथा 'अदेङ् गुणः' से गुण की अनुवृत्ति आ सकती थी । पुनरपि इस सूत्र में गुण-वृद्धि का ग्रहण यह नियम बनाने के लिए किया है कि जहाँ पर गुण-वृद्धि पदों द्वारा गुण तथा वृद्धि का विधान किया जाए, वहीं पर ये 'इक्' के स्थान पर होंगे । जहाँ

पर गुण-वृद्धि का नाम न लिया जाए, वहाँ पर तो 'इक्' के अतिरिक्त अन्य स्थान पर भी हो जायेंगे। यथा—द्यौः। पन्था। सः। इमम्

द्यौ=दिव्+सु
दिव औत्—दि औ+सु
इको यणचि—द्य् औ+सु
रुत्व विसर्ग=द्यौः।
यहाँ पर 'औ' का विधान किया गया है। किन्तु वृद्धि शब्द द्वारा यहां इसका विधान नहीं किया गया अपितु 'दिव औत्' सूत्र द्वारा किया गया है। इस लिए औकार, 'इक्' के स्थान पर न होकर वकार के स्थान पर होता है।

पन्थाः=पथिन्+सु
पथिमथ्यृभुक्षामात्—पथि आ +सु
इतोऽत्सर्वनाम०—पथ आ+सु
थो न्थः—पन्था आ+सु
पन्था+सु=पन्थाः
यहाँ पर भी आकार आदेश नकार के स्थान पर होता है, इक् के स्थान पर नहीं क्योंकि वृद्धि शब्द द्वारा इसका विधान नहीं किया गया।

सः=तद्+सु
त्यदादीनामः—त अ+सु
अतो गुणे—त+सु
तदोः सः सावनन्त्ययोः—स+सु=रुत्वविसर्ग=सः
यहाँ पर 'त्यदादीनामः' से 'द्' के स्थान पर अकार किया गया है। अकार यद्यपि गुण संज्ञक है। किन्तु गुण लेकर इसका विधान नहीं किया गया। अतः 'इक्' के स्थान पर न होकर 'द्' के स्थान पर होता है।

इमम्=इदम्+अम्
त्यदादीनामः—इ द अ+अम्
दश्च—इ म अ+अम्
अतो गुणे—इ म+अम्
अमिपूर्वः—इमम्।
यहाँ पर भी 'म्' को 'अ' किया गया है किन्तु गुण नाम लेकर इसका विधान नहीं किया गया अतः 'इक्' के स्थान नहीं हुआ।

न धातुलोप आर्धधातुके ।।४।।

धात्वेकदेशो धातुः तस्य लोपो यस्मिन्नार्धधातुके तदार्धधातुकं धातुलोपं तत्र ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः। लोलुवः। पोपुवः। मरीमृजः। लोलूयादिभ्यो यङन्तेभ्यः पचाद्यचि विहिते "यङोचि च" (अ० सू० २।४।७४) इति यङो लुकि कृते तमेवाचमाश्रित्य ये गुणवृद्धी प्राप्ते तयोः प्रतिषेधः। धातुग्रहणं किम्? लूञ्। लविता। रेङसि। पर्णं नयेः। अनुबन्धप्रत्ययलोपे मा भूत्। रिषेर्हिंसार्थस्य विच्प्रत्ययलोप उदाहरणं रेडति। आर्धधातुके इति किम्? त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति। सार्वधातुके मा भूत्। इक इत्येव। अभाजि, रागः। बहुव्रीहिसमाश्रयणं किम्? क्नोपयति, प्रेद्धम्।

धातु का एकदेश की धातु कहलाता है। आर्धधातु प्रत्यय परे रहने पर उस धात्वेकदेश का लोप हो, वह आर्धधातुक धातुलोप कहलाता है। वहाँ पर जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं वे नहीं होते। अर्थात् धात्वेकदेश के निमित्तक

आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर उसी आर्धधातुक प्रत्यय को मानकर जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे नहीं होते।[1] यथा—लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः। 'लोलूय' आदि यङन्त धातुओं में 'नन्दिग्रह्िपचादिभ्यो०' ३।१।१३४ से 'अच्' प्रत्यय का विधान करने पर, 'यङोऽचि च' २।४।७४ से 'यङ्' का लुक् करने पर उसी 'अच्' प्रत्यय को मानकर जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे नहीं होगे। धातु का ग्रहण इसलिए किया है कि—लूञ्—लविता, रेडिति, पर्णं नयेः, यहाँ पर अनुबन्ध तथा प्रत्यय का लोप होने पर यह प्रतिषेध न लगे। हिंसार्थक 'रिष्' धातु से 'विच्' प्रत्यय का लोप होकर 'रेड्' शब्द बनता है। आर्धधातुक प्रत्यय इसलिए कहा है कि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर'यह निषेध न लगे। यथा 'त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीति' हृदय, कण्ठ तथा शिर में तीन प्रकार से बंधा हुआ वृषभ शब्द कर रहा है। इस उदाहरण में 'रोरवीति' में सार्वधातुक प्रत्यय परे है अतः गुण निषेध नहीं है। 'इक्' के स्थान पर ही गुण-वृद्धि का निषेध होता है, अन्यत्र नहीं। यथा—अभाजि, रागः 'धातु के एकदेश का लोप है जिस आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर' ऐसा वहुव्रीहि काआश्रय इसलिए लिया है कि क्नोपयति, प्रेद्धम् यहाँ पर गुण-वृद्धि का निषेध न हो।

व्याख्या—जिस आर्धधातुक प्रत्यय को मानकर धात्वंश लोप होता है, वही आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर, उसे मानकर जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे नहीं होते। यथा—लोलुवः, पोपुवः। मरीमृजः।

लोलुवः— √लूञ्
धातोरेकाचोहलादेः० लू+यङ्
सन्यङोः—लू+लू+य
गुणोयङ्लुकोः—लो+लू+य
सनाद्यन्ता० से धातु संज्ञा होकर नन्दि ग्रह्ि०, लोलूय+अच्
यङोऽचि च—लोलू+अच्
अचिश्नुधातु० लो लुवङ्+अ
लोलुव+सु=लोलुवः
इसी प्रकार √पूञ से पोपुवः बनेगा।

मरीमृजः— √मृज्
धातोरेकाचो०—मृज्+यङ्
सन्यङोः—मृज्+मृज्+य
उरत्—मर्ज्+मृज्+य
हलादिः शेषः—म+मृज्+य
रीगृदुपधस्य च—म+रीक्+मृज्+य
सनाद्यन्ता० से धातु संज्ञा होकर नचिग्रहिपचादिभ्यो०— मरीमृज्य+अच्
यङोऽचि च—मरीमृज्+अ=मरीमृज
मरीमृज+सु=मरीमृजः

---

१. भर्तृहरि ने भाष्य दीपिका में इस सूत्र के विभिन्न वृत्तिकारों के अनुसार दो अर्थ दिखलाये हैं—अतो वृत्तिकारो व्याचष्टे धातोर्लोपः धातुलोपः धात्वेकदेशनिमित्त आर्धधातुक इति। अपर एवमाह—धातोश्च एकदेशस्य च लोपो धातुलोप, धातुलोपनिमित्त इति। काशिकाकार ने इनमें से एक वृत्तिकार के आधार पर अपनी व्याख्या की है।

इन तीनों उदाहरणों म आर्धधातुकप्रत्यय 'अच्' को मानकर धात्वंश 'य' का लोप हुआ है। उसी 'अच्' को मानकर लोलुवः पोपुवः में 'सार्वधातुकार्धधातुक्योः' से गुण प्राप्त था तथा 'मरीमृजः में 'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि प्राप्त थी प्रस्तुत सूत्र से दोनों का निषेध हो जाता है।

जहाँ आर्धधातुक प्रत्यय के धात्वंश लोप होता है, वही पर गुण-वृद्धि का निषेध होता है। जहाँ अनुबन्ध या प्रत्यय का लोप होता है वहाँ निषेध नहीं होता यथा—लविता। रेडिति। पर्णं नयेः।

लविता—√लूञ्
ण्वुल्तृचौ—लू+तृच्
आर्धधातुक॰—लू+इट्+तृ
सार्वधातुका॰—लो+इ+तृ
एचोऽयवायावः—लव्+इ+तृ
लवित्+सु=लविता
यहाँ पर धातु का नहीं अपितु 'ञ्' अनुबन्ध का लोप हुआ है अतः गुण का निषेध नहीं हुआ।

पर्णं नयेः
नीञ्+सिप् (वि॰ लि॰)
कर्त्तरिशप्—नी+शप्+सि
यासुट् परस्मै॰—नी+शप्+यासुट्+सि
नी+अ+यास्+सि
लिङः सलोपो॰—नी+अ+या+सि
सार्वधातुका॰— ने+अ+या+सि
एचोऽयवा॰— नय्+अ+या+सि
अतोयेयः—नय+इय्+सि
इतश्च—नय+इय्+स्
लोपो व्योर्वलि—नय+इ+स्
आद्गुणः—नये स्+नयेः

रेड् इति— √रिष्
अन्येभ्योऽपि—रिष्+विच्
उपदेशेऽज॰—रिष्+व् च्
हलन्त्यम्—रिष्+व्
पुगन्तलघूप॰—रेष्+व्
वेरपृक्तस्य—रेष्
झलां जशोऽन्ते—रेड्
यहाँ पर प्रत्यय 'व्' का लोप हुआ है। धात्वंश का नहीं। अतः गुण हो जाता है।

यहाँ पर भी 'ञ्' अनुबन्ध का **लोप** हुआ है, धात्वंश का नहीं अतः गुण का निषेध नहीं हुआ।

आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर ही गुण-वृद्धि का निषेध होता है, सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर नहीं। यथा—

रोरवीति
धातोरेकाचो॰—रु+य
सन्यङोः—रु+रु+य
गुणोयङ्लुकोः—रो रु य
सनाद्यन्ता॰ से धातु संज्ञा
=रो रु य+तिप्
बहुलं छन्दसि—रो रु+ति
कर्त्तरि॰—रो रु+शप्+ति
रो रु+अ+ति
यङोवा—रो रु+अ+ईट्+ति
सार्वधातुका॰ रो रो+अ+ई ति
एचोऽयवा॰—रो र व्+अ+ई+ति
अदिप्रभृतिभ्यः॰—रो रव्+ई+ति=रोरवीति

यहाँ पर सार्वधातुक 'तिप्' प्रत्यय परे रहने पर धात्वंश 'य' का लोप हुआ है अतः गुण का निषेध नहीं हुआ।

'इक्' के स्थान पर होने वाली गुण-वृद्धि का ही निषेध होता है अन्यत्र नही। जैसे—अभाजि, रागः।

अभाजि—√भञ्ज्+लुङ्
लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व०-— अट्+भञ्ज्+लुङ्
भावकर्मणोः— अ+भञ्ज्+त
च्लि लुङि— अ+भञ्ज्+च्लि+त
चिण् भावकर्मणोः— अ+भञ्ज्+ चिण्+त
चिणो लुक्—अ+भञ्ज्+चिण्
भञ्जेश्चिणि — अ+भज्+चिण्
अत् उपधाया—अ+भाज्+चिण्
चुटू, हलन्त्यम्—अ+भाज्+इ=अभाजि

रागः √रञ्ज्
भावे—रञ्ज्+घञ्
घञि च भावकर्मणोः—रज्+घञ्
लशक्वतद्धिते, हलन्त्मम्—रज् अ
अत उपधायाः—राज्+अ
चजोः कु घिण्ण्यतोः—राग्+अ=राग
राग+सु=रागः

यहाँ पर 'अभाजि' में 'चिण्' को निमित्त मानकर √भञ्ज् के अकार का लोप हुआ है तथा अकार के स्थान पर वृद्धि हुई। इसी प्रकार 'रागः' में 'घञ्' प्रत्यय को मानकर √रञ्ज् के अकार का लोप होकर अकार के स्थान में वृद्धि हुई है। ये दोनों वृद्धियाँ 'इक्' के स्थान पर नहीं हैं। अतः प्रस्तुतः सूत्र से इसका निषेध नहीं होता।

जिस आर्धधातुक प्रत्यय को मानकर धात्वंश का लोप हुआ है, उसी आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर प्राप्त होने वाले गुण वृद्धि का निषेध किया गया है। इस प्रकार यहाँ बहुव्रीहि समास का आश्रय इसलिए लिया गया है कि 'क्नोपयति, प्रेद्धम्' यहां पर गुण-वृद्धि का निषेध नहीं होता।

क्नोपयति—क्नूयी
हेतुमति च—क्नूय्+णिच्+तिप् (लट्)
अर्तिह्रीव्लीरी०— क्नूय्+पुक् इ+ति
लोपो व्योर्वलि—क्नू+प्+इ+ति
कर्त्तरि शप्—क्नू+प्+इ+
+शप्+ति
सार्वधातुकार्ध०— क्नू+प्+ए अ+ति
पुगन्तलघूप०—क्नो+प्+ए+अ+ति
एचोऽयवायावः— क्नोप्+अय् अ+ति=क्नोपयति

प्रेद्धम् प्र + √ञि इन्धी
आदि ञिटुडवः—प्र + इन्धी
निष्ठा—प्र + इन्ध् + क्तः
अनिदितां०—प्र + इध् + त
झलांजश्०—प्र + इत् + त
झषस्तथो०—प्र + इद् + ध
आद्गुणः—प्रेद्ध
प्रेद्ध + सु = प्रेद्धम्

यहाँ पर 'क्नोपयति' में धात्वंश 'य्' का लोप 'लोपो व्योर्वलि' से तथा 'प्रेद्धम्' में 'न्' का लोप 'अनिदितां हल०' सूत्र से हुआ है। दोनों में गुण करने वाले सूत्र इन से अतिरिक्त हैं। इसलिए गुण निषेध नहीं होता है।

क्ङिति च ॥५॥

निमित्तसप्तम्येषा। क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः। चितः। चितवान्। स्तुतवान्। भिन्नः। भिन्नवान्। मृष्टः। मृष्टवान्। ङिति खल्वपि—चिनुतः। चिन्वन्ति। मृष्टः। मृजन्ति। गकारोऽप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते। "ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः" (अ० सू० ३।२।१३६) जिष्णुः। भूष्णुः। इक इत्येव—कामयते। लैगवायनः। मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते। संक्रमो नाम गुणवृद्धिप्रतिषेधविषयः। परिमृजन्ति परिमार्ज्जन्ति। परिमृजन्तु। परिमार्ज्जन्तु। लघूपधगुणस्याप्यत्र प्रतिषेधः। अचिनवमसुनवमित्यादौ लकारस्य सत्यपि ङित्त्वे यासुटो ङिद्वचनं ज्ञापकम्—ङिति यत्कार्यं तल्लकारे ङिति न भवतीति।

अर्थ—यह निमित्तसप्तमी है। कित् ङित प्रत्ययों को निमित्त मानकर जो गुणवृद्धि प्राप्त होते हैं, वे न हों। जैसे—चितः, चितवत्। स्तुतः, स्तुतवान्। भिन्नः, भिन्नवान्। मृष्टः, मृष्टवान्। ङित् प्रत्यय का उदाहरण—चिनुतः, चिन्वन्ति। मृष्टः, मार्जन्ति। सूत्र में ककार से पूर्व गकार का प्रश्लेष भी किया गया है उस गकार को चर्त्व होकर ककार बन जाता है। इसका फल यह है कि 'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः' जिष्णुः भूष्णुः, यहाँ पर भी गुण का निषेध होता है, अन्यत्र नहीं। यथा—कामयते। लैगवायनः। मृज् धातु को अजादि प्रत्यय के संक्रम में विकल्प से वृद्धि इष्ट है। गुणवृद्धि के प्रतिषेध को संक्रम कहते हैं। जैसे—परिमृजन्ति, परिमार्ज्जन्ति, परिमृजन्तु, परिमार्ज्जन्तु। लघूपध गुण का भी यहाँ प्रतिषेध किया गया है। 'अचिनवम्, असुनवम्' इत्यादि में लकार के ङित् होने पर भी यासुट् को ङित् करने से यह ज्ञापक निकलता है कि ङित् प्रत्यय परे रहने पर जो कार्य कहे गये हैं, वे ङित लकार के परे रहने पर नहीं होते।

व्याख्या—सप्तमी के तीन भेद होते हैं—(१) परे होने पर=परसप्तमी। (२) उस विषय में=विषय सप्तमी। (३) निमित्त मात्र मान कर=निमित्त सप्तमी। पर सप्तमी के अनुसार जो कार्य किया जाता है, वह कार्य दूसरे वर्ण के व्यवधान से रहित पूर्ववर्ण को होता है। यदि सूत्र में पर सप्तमी मानी जाये तो 'भिद्+तः=भिन्नः, भिद्+क्तवतु=भिन्नवान्' यहाँ पर गुण निषेध नहीं हो पायेगा क्योंकि यहाँ पर 'इ' तथा 'त' के मध्य 'द्' का व्यवधान है। निमित्त सप्तमी मान कर प्रत्यय को निमित्त मात्र माना जाता है, उसकी व्यवधान रहितता अपेक्षित होती है। निमित्त सप्तमी मानकर ही 'भिन्नः' आदि उदाहरणों में 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त होने वाले गुण का निषेध होता है। परसप्तमी मानकर व्यवधान रहित को ही कार्य होने से केवल 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का ही निषेध हो पाता। निमित्त सप्तमी मानकर 'पुगन्तलधूपधस्य च' से प्राप्त गुण का भी निषेध हो जाता है। इसीलिए काशिकाकार ने लिखा है—लघूपधगुणस्याप्यत्र प्रतिषेधः। लघूपधगुणप्रतिषेध के उदाहरण भिन्न' आदि हैं।

कित् प्रत्ययों के उदाहरण

चितः—$\sqrt{}$चिञ्
निष्ठा—चि+क्त
लशक्वतद्धिते—चित।
चित+सु=चितः
चितवान्—चि+क्तवतु
लशक्व०, उपदेशे०—चि+तवत्
चितवत्+सु
उगिदचां०— चितव+नुम्+त्+सु
चितव+न्+त्+सु
सर्वनामस्थाने०—चितवान्त्
संयोगान्तस्य लोपः—चितवान्
इसी प्रकार—स्तु+क्त=स्तुतः
स्तु+क्तवतु=स्तुतवान्
भिन्नः—भिद+क्त (त)
रदाभ्यां निष्ठातो०—भिन् न=भिन्न+सु=भिन्नः
भिन्नवान्— भिद्+क्तवतु=भिन्नवान्
मृष्टः—मृजूष्+क्त
वृश्च भ्रस्ज०—मृष्+त
ष्टुनाष्टुः—मृष्ट
मृष्ट+सु=मृष्टः

ङित् प्रत्ययो के उदाहरण—
चिनुतः—चि+तस्
स्वादिभ्यः श्नुः—चि+श्नु+तस्
लशक्व०—चि+नु+तस्
रुत्व विसर्ग=चिनुतः
चिन्वन्ति—चि+श्नु+झि
झोऽन्तः—चि+नु+अन्त इ
हुश्नुवोः सार्वधातुके—चि न् व् अन्ति=चिन्वन्ति
मृष्टः—मृज्+तस्=मृष्टः
मृजन्ति—मृज्+झि (अन्ति)
'सार्वधातुकमपित्' सूत्र द्वारा 'श्नु' 'तस्' तथा 'झि' प्रत्यय ङित् हैं। जिस कारण $\sqrt{}$चि तथा 'श्नु' को सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का निषेध हो गया।

'मृष्टः' तथा 'मृजन्ति' में 'मृजेर्वृद्धिः' से प्राप्त वृद्धि का निषेध हो जाता है।

'क्ङिति' सूत्र में गकार का प्रश्लेष भी माना गया है अर्थात् ककार ही गकार का भी बोध कराता है । सूत्र की स्थिति इस प्रकार थी—गित्, कित्, ङित्, । इसके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा--गित्, कित् तथा ङित् प्रत्यय को मान कर जो गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे न हों । 'खरि च' सूत्र से गकार को चर्=क् हो जाता है गकार प्रश्लेष मानने का लाभ यह है कि 'भू+ग्स्नु=भूष्णु, जि+ग्स्नु=जिष्णु,' यहाँ पर भी गुण का निषेध हो जाता है । प्रश्न है कि इन दोनों उदाहरणों में तो 'ग्स्नु' प्रत्यय नहीं है अपितु 'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः' सूत्रानुसार 'क्स्नु' प्रत्यय ही होता है । इसका उत्तर यह है कि 'ग्लाजिस्थश्च०' सूत्र में भी 'क्स्नु' प्रत्यय न मानकर 'ग्स्नु' ही मानना चाहिए । इसका लाभ यह होगा कि 'स्थास्नुः'=स्था+ग्स्नु यहाँ पर 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' सूत्र द्वारा ईकार नहीं होता । यह सूत्र कित् प्रत्यय परे रहने पर ईकार करता है—गित् प्रत्यय परे रहने पर नहीं ।

'इक्' के स्थान पर ही कित् ङित् निमित्तक गुण-वृद्धि का निषेध होता है इक् से भिन्न स्थान पर नहीं । यथा—कामयते, लैंगवायनः

कामयते √कमि
कमेर्णिङ्—कम्+णिङ् (इ)
अतउपधायाः—कामि
सनाद्यन्ता धातवः—कामि+त
कर्त्तरिशप्— कामि+शप्+त
सार्वधातुकार्ध०—कामे+अ+त
एचोऽयवायावः— कामय्+अ+त
टित आत्मने पदानां०—कामय+ते=कामयते

लैंगवायनः—लिगोरपत्यं तुमान्
नडादिभ्यः फक्—लिगु+फक्
आयनेयीनीयिय०— लिगु+आयन्+अ
किति च—लैंगु+आयन
ओर्गुणः—लैंगो+आयन
एचोऽयवायः—लैंगव्+आयन
लैंगवायन+सु=लैंगवायनः

यहाँ पर 'कामयते' में 'णिङ्' प्रत्यय को मानकर उपधा अकार के स्थान में वृद्धि हुई है । णिङ् यद्यपि ङित् है तथापि वृद्धि निषेध नहीं क्योंकि यह वृद्धि 'इक्' के स्थान पर नहीं है । इसी प्रकार 'लैंगवायनः' में 'फक्' को मानकर उकार के स्थान पर गुण हुआ है । फक् कित् है तथापि गुण निषेध नहीं हुआ क्योंकि यह गुण भी 'इक्' के स्थान पर विहित नहीं है अपितु उवर्णान्त अंग को विहित है ।

गुण-वृद्धि के प्रतिषेध को संक्रम कहते हैं । जहाँ पर अजादि प्रत्ययों के परे रहने पर गुण-वृद्धि का निषेध प्राप्त हो, वहाँ √मृज् को विकल्प से वृद्धि होती है ।

यथा—**परिमृजन्ति**
परि+मृज्+झि (लट्)
झोऽन्तः—परिमृज्+अन्त्+इ
=परिमृजन्ति
परिमार्जन्ति —परिमृज्
+झि
झोऽन्तः—परिमृज्+अन्ति
मृजे र्वृद्धिः, उरण्रपरः,—परि-
मार्ज्+अन्ति=परिमार्जन्ति

परिमृजन्तु— परि+मृज्+
झि (लोट्)
झोऽन्तः—परिमृज्+अन्त्+इ
एरुः— परिमृज्+अन्त्+उ
=परिमृजन्तु
परिमार्जन्तु – परिमृज्+झि
झोऽन्तः—परिमृज्+अन्ति
एरुः—परिमृज्+अन्तु
मृजेर्वृद्धिः, उरण्रपरः, परि-
मार्ज्+अन्तु=परिमार्जन्तु

विधिलिङ् में 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' सूत्र द्वारा 'यासुट्' प्रत्यय का विधान किया गया है तथा साथ ही इसको 'ङित्' भी किया गया है। लिङ् लकार 'ङित्' है ही, अतः यासुट् भी स्वयमेव 'ङित्' मान लिया जाता। पुनरपि 'ङित्' किया गया है तो इससे ज्ञापक निकलता है कि—'ङित् प्रत्यय परे रहने पर जो कार्य होता है, वह ङित् लकार परे रहने पर नहीं होता। इस ज्ञापक का लाभ यह है कि 'अचिनवम्, असुनवम्' में लङ् लकार को मान कर गुणनिषेध नहीं होता।

अचिनवम्—√चि+लङ्
लुङ् लङ् लृङ्०—अट्+चि+मिप्
स्वादिभ्यः श्नुः—अ+चि+श्नु+मि
तस्थस्थमिपां—अ+चि+नु+अम्
सार्वधातुकार्ध०—अ+चि+नो+अम्
एचोऽयवायावः—अ+चि+नव्+अम्
=अचिनवम्
इसी प्रकार अ+सु+श्नु+अम्
=असुनवम्

लङ् लकार यद्यपि ङित् है तथापि गुण निषेध नहीं होते 'मिप्' प्रत्यय ङित् नहीं है। अतः उसे मानकर यहाँ गुण हो गया।

दीधीवेवीटाम् ॥६॥

दीधीवेव्यो रिटश्च ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः । आदीध्यनम् । आदीध्यकः । आवेव्यनम् । आवेव्यकः । इटः खल्वपि । कणिताश्वः, रणिता श्वः । वृद्धि रिटो न सम्भवतीति लघूपधगुणस्यात्र प्रतिषेधः ।

वृत्यर्थ—√दीधीङ्, √वेवीङ् तथा इट् आगम को जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे नहीं होते। जैसे—आदीध्यनम्। आदीध्यकः। आवेव्यनम्। आवेव्यकः

इट् के उदाहरण—करिणता श्वः। रणिता श्वः। इट् को कहीं पर भी वृद्धि प्राप्त नहीं है। अतः 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध ही इसे किया गया है।

आदीध्यनम्—आङ्+दीधीङ्
ल्युट् च—आ+दीधी+ल्युट्
युवोरनाकौ—आ+दीधी+अन
एरनेकाचोऽसंयोग—०आ+
दीध्य्+अन
=आदीध्यन+सु=आदीध्यनम्
इसी प्रकार आ+वेवीङ्+
ल्युट्=आवेव्यनम्
करिणता—√कण्+लुट्
स्यतासीलृलुटोः— कण्+तासी
+तिप्
लुटः प्रथमस्य०— कण्+तासी
डा
उपदेशेऽज०, चुटू—कण्+तास्
आ
आर्धधातुकस्येड्०—कण्+इट्
तास्+आ
कण्+इ+त्+आ
=करिणता

आदीध्यकः—आङ्+दीधीङ्
ण्वुल्तृचौ— आ+दीधी+
ण्वुल् (वु)
युवोरनाकौ—आ दीधी+अक
एरनेकाचो०—आ दीध्य्+अक
आदीध्यक+सु= आदीध्यकः
इसी प्रकार आ+वेवीङ्+
ण्वुल्= आवेव्यकः

इसी प्रकार
रण्+इट्+तासी+डा
=रणिता

इस उदाहरणों में करिणता, रणिता में 'पुगन्त लघूपधस्य च' से तथा शेष उदाहरणों में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण प्राप्त था। प्रस्तुत सूत्र द्वारा उसका निषेध हो गया।

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥७॥

भिन्नजातीयैरज्भिरव्यवहिताः श्लिष्टोच्चारिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्ति, समुदायः संज्ञी। जातौ चेदं बहुवचनं तेन द्वयोर्बहूनां च संयोगसंज्ञा सिद्धा भवति। अग्निरिति गनौ। अश्व इति शवौ। कर्ण इति रणौ। इन्द्रश्चन्द्रो मन्द्र इति नदराः। उष्ट्रो राष्ट्रं भ्राष्ट्रमिति षटराः। तिलान् स्त्र्यावपतीति नसतरयाः। नतसतरया वा। हल इति किम्? तितउच्छत्रम्। "संयोगान्तस्य लोपः" (अ० सू० ८।२।५।३) इति लोपः स्यात्। अनन्तरा इति किम्? पचति। पनसम्। "स्कोः संयोगाद्योः" (अ० सू० ८।२।५।३) इति लोपः स्यात्। संयोगप्रदेशाः— "संयोगान्तस्य लोप" (अ० सू० ८।२।२९) इत्येवमादयः।

वृत्यर्थ—भिन्नजातीय अचों से अव्यवहित अर्थात् व्यवधान रहित, श्लिष्ट अर्थात् मिलाकर उच्चारण किये गये हलों की संयोग संज्ञा होती होती है। यहाँ पर सम्पूर्ण समुदाय ही संज्ञी है अर्थात् सम्पूर्ण व्यञ्जन समुदाय की ही संयोग संज्ञा होती है। 'हलः' पद में जाती में बहुवचन है। इसलिए दो या दो से अधिक हलों की संयोग संज्ञा सिद्ध होती है। जैसे 'अग्नि' में ग् न्, 'अश्व' में श् व्, कर्ण में र् ण्, इन्द्र, चन्द्र, मन्द्र में न्, द् र्, उष्ट्र, राष्ट्र, भ्राष्ट्र में ष् ट् र्, तिलान् स्त्र्यावपति में ज् स् त् र् य् न् त् स् त् र् य् की संयोग संज्ञा है। सूत्र में 'हलः' इस लिए कहा है कि ति त उच्छत्रम् में उकार तथा उससे पूर्ववर्त्ती अकार की संयोग संज्ञा न हो क्योकि ये अच् हैं, हल् नहीं। यदि यहाँ भी संयोग संज्ञा हो जाये तो 'संयोगान्तस्य लोपः' से उकार का लोप प्राप्त होगा। व्यवधान रहित की ही संयोग संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। अन्यथा 'पचति-पनसम्' में संयोग संज्ञा हो जायेगी। जिससे 'पनसम्' में 'स्कोः संमोगाद्योरन्ते च' से सकारलोप प्राप्त होगा। संज्ञा के प्रदेण 'संयोगान्तस्य लोपः' आदि सूत्र हैं।

मुखनासिका वचनोऽनुनासिकः ॥८॥

मुखसहिता नासिका मुखनासिका, तया च उच्चार्यते वर्णः सोऽनुनासिकसंज्ञो भवति। आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (अ० सू० ६।१।११६) अभ्र आँ अपः। गभीर आँ उग्रपुत्रे। चन आँ इन्द्रः। मुखग्रहणं किम्? अनुस्वारस्यैव हि स्यात्। नासिकाग्रहणं किम्? कचटतपानां मा भूत्। अनुनासिक-प्रदेशाः।आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' (अ० सू० ६।१।१२६) इत्येवमादयः।

वृत्यर्थः—मुख से युक्त नासिका मुखनासिका कहलाती है। उससे जो उच्चरित होता है, वह अनुनासिक संज्ञक होता है। 'अभ्र' आँ अप' 'गम्भीर आँ उग्रपुत्रे, 'चन आँ इन्द्र' में 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' से 'आङ्' को अनुनासिक हो जाता है। सूत्र में मुख का ग्रहण क्यों किया मुख ग्रहण के बिना इसबिए किया हैं कि जिससे 'क, च, ट, त, प,' की अनुनासिक संज्ञा न हो। अनुनाभिक संज्ञा के स्थान 'आङोनुनासिकश्छन्दसि' आदि सूत्र हैं।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥९॥

तुल्यशब्दः सदृशपर्यायः, आस्ये भवमास्यं ताल्वादिस्थानं, प्रयतनं प्रयत्नः स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः। तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्य वर्णस्य येन वर्णेन सह स समानजातीयं प्रति सवर्णसंज्ञो भवति। चत्वार आभ्यन्तराः प्रयत्नाः सवर्णसंज्ञायामाश्रीयन्ते---स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, संवृतता, विवृतता चेति। 'अअअ' इति त्रयोऽकारा उदात्तानुदात्तस्वरिताः, प्रत्येकं सानुनासिका निरनुनासिकाश्च

ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदादष्टादशधा भिद्यन्ते । तथेवर्णः तथोवर्णः । तथा ऋवर्णः । लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति । तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते । सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति तान्यपि द्वादशप्रभेदानि । अन्तःस्था द्विप्रभेदा रेफवर्ज्जिता यवलाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च । रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति । वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः । दण्डाग्रम् । खट्वाग्रम् । आस्यग्रहणं किम् ? कटचतपानां भिन्नस्थानानां तुल्यप्रयत्नानां मा भूत् । किं च च स्यात् ? 'तप्तर्ा' 'तप्र्तुम्' इत्यत्र "झरो झरि सवर्णे" (अ० सू० ८।२।३६) इति पकारस्य तकारे लोपः स्यात् । प्रयत्नग्रहणं किम् ? इचुयशानां तुल्यस्थानानां भिन्नप्रयत्नां मा भूत् । किंच स्यात् ? अरुश्च्योततीत्यत्र "झरो झरि सवर्णे" (अ० सू० ८।२।३६) इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात् । ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या । होतृलकारः । होतृकारः । उभयोर्ऋवर्णस्य लृवर्णस्य चान्तरतमः सवर्णो दीर्घो नास्तीति ऋकार एव दीर्घो भवति । सवर्णप्रदेशाः—"अकः सवर्णे दीर्घ" (अ० सू० ६।१।१०१) इत्येवमादयः ।

तुल्य शब्द सदृश का पर्यायवाची है । आस्य अर्थात् मुख में होने वाले ताल्वादि स्थान आस्य कहलाते हैं । प्रकृष्ट यत्न को प्रयत्न कहते हैं । स्पृष्टता आदि वर्णों के गुण हैं । जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ मुख में होने वाला स्थान तथा प्रयत्न समान हो, वह वर्ण समान जातीय वर्ण के प्रति सवर्णसंज्ञक कहलाता है । स्पृष्टता, ईषद्स्पृष्टता, संवृतता, विवृतता, ये चार आभ्यन्तर प्रयत्न सवर्णसंज्ञा का आश्रय लेते हैं । 'अ अ, अ,' ये तीन अकार क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित हैं । इनमें से प्रत्येक अकार सानुनासिक तथा निरनुनासिक होते हुए ह्रस्व् दीर्घ तथा प्लुत के भेद से १८ प्रकार का है । उसी प्रकार इवर्ण उसी प्रकार उवर्ण तथा ऋवर्ण के भी १८ भेद हैं। 'लृ' वर्ण के दीर्घ नहीं होते, अ:त इसके १२ भेद हैं सन्ध्यक्षर—ए, ओ आदि के ह्रस्व नहीं होते, अतः इनके भी १२ भेद होते हैं । रेफ को छोड़ कर अन्तस्थ—'य व ल' सानुनासिक तथा निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं । रेफ तथा उष्म—'श, ष, स, ह' वर्णों के सवर्ण नहीं होते। समान वर्ग के वर्ण का समान वर्ग के वर्ण के साथ सादृश्य होता है । जैसे दण्डाग्रम्, खट्वाग्रम् । सूत्र में 'आस्य' पद का ग्रहण इसलिए किया है कि जिससे भिन्न स्थान वाले तथा तुल्य प्रयत्न वाले 'क, च, ट, त, प' की सवर्ण संज्ञा न हो जाए तो 'तप्तर्ा, तप्र्तुम्' में 'झरो झरि सवर्णे' से तकार परे होने पर एकार का लोप प्राप्त होगा । 'प्रयत्न' का ग्रहण इसलिए किया है कि तुल्य स्थान वाले तथा भिन्न प्रयत्न वाले 'इ, च, श तथा य' की सवर्ण संज्ञा न हो जाए । यदि यहाँ पर सवर्ण संज्ञा हो जाए तो 'अरुश्च्योताति' यहाँ पर 'झरो झरि

सवर्णे' से चकार परे होने पर शकार का लोप हो जायेगा। ऋकार तथा लृकार की सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए। होतृ लृकारः=होतृकारः। 'ऋ' तथा 'ॣ' दोनों वर्णों के अन्तरतम सवर्णदीर्घ नहीं है अतः दोनों के स्थान पर ऋकार ही दीर्घ होता है। सवर्ण संज्ञा के विधायक सूत्र अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यादि हैं (ऋकार तथा लृकार की सवर्ण संज्ञा इस लिए प्राप्त नहीं है कि 'ऋ' मूर्धा स्थानीय है तथा 'लृ' दन्त स्थानीय है) सवर्ण संज्ञक वर्ण वे ही होते हैं जिनका स्थान तथा प्रयत्न समान हो। अतः वार्त्तिक द्वारा दोनों की सवर्ण संज्ञा प्राप्त कराई गयी है।

व्याख्या--जिन वर्णों के स्थान तथा प्रयत्न दोनों समान होते हैं, उनकी ही सवर्ण संज्ञा होती है। जिनका केवल स्थान अथवा केवल प्रयत्न समान होता है, उनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होती। प्रयत्न दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तरं तथा बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार के हैं। बाह्य प्रयत्न ११ प्रकार के हैं। **आभ्यन्तर प्रयत्न**=स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत्, ईषत् विवृत तथा संवृत।

१. **स्पृष्ट**—जिस प्रयत्न में उच्चारण करते समय वर्ण अपने अपने स्थानों का पूर्णतः स्पर्श करते हैं, यह स्पृष्ट प्रयत्न है। स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है।

२. **ईषत्स्पृष्ट**— इस प्रयत्न में वर्ण अपने स्थानों का कुछ-कुछ स्पर्श करते हैं अन्तस्थ वर्णों का ईषत् स्पृष्ट प्रयत्न है।

३. **विवृत**—विवृत वर्णों के उच्चारण के समय मुख खुला रहता है। स्वर विवृत प्रयत्न वाले हैं।

४. **ईषद् विवृत**—इसमें मुख पूर्ण न खुलकर थोड़ा खुलता है। ऊष्म वर्णों का ईषद् विवृत प्रयत्न है।

आभ्यान्तर प्रयत्न दर्शक चित्र

स्पृष्ट	ई० स्पृष्ट	विवृत	ई० विवृत	संवृत
सम्पूर्ण कवर्ग चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथापवर्ग	य, र, ल, व,	अ, इ, उ, ऋ लृ, ए, ओ, ऐ, औ	श, ष, स, ह	ह्रस्व 'अ' प्रयोग में संवृत है। प्रक्रिया दशा में विवृत है।

बाह्य प्रयत्न— विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्प प्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ।

१. **विवार**—वर्णों के उच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं । जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है, उनका विवार यत्न कहा गया है ।

२. **संवार**—मुख के संकुचित होने को संवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण में मुख संकुचित रहता है, वे संवार यत्न वाले हैं।

३. **श्वास**— यह भी यत्न है । कुछ वर्णों के उच्चारण में श्वास चलता है ।

४. **नाद**—कुछ गम्भीर ध्वनि को नाद कहते हैं । इस प्रयत्न वाले वर्ण नाद कहे जाते हैं ।

५. **घोष**—वर्णों के उच्चारण में जो गूंज होती है, उसे घोष कहते हैं। इस प्रयत्न वाले वर्ण घोष कहे जाते हैं।

६. **अघोष**— गूंज रहित उच्चारण को अघोष कहते हैं । जिन के उच्चारण में गूंज नहीं होती उनको अघोष वर्ण कहते हैं ।

७. **अल्प प्राण**— वर्णों के उच्चारण में प्राण वायु के अल्प प्रयोग को अल्प प्राण कहते हैं । जिनके उच्चारण में अल्प प्राण वायु अपेक्षित हैं, वे वर्ण अल्पप्राण कहलाते हैं।

८. **महाप्राण**—प्राण वायु के अधिक उपयोग को महाप्राण कहते हैं। जिनके उच्चारण में अधिक प्राण वायु अपेक्षित रहता है, वे महाप्राण वर्ण हैं ।

९. **उदात्त**—कण्ठ-तालु आदि स्थानों के ऊपर के भाग से जिस वर्ण का उच्चारण होता है, वह उदात्त कहलाता है।

१०. **अनुदात्त**— कण्ठ-तालु आदि स्थानों के नीचे के भाग से वाले जाने वाले वर्ण अनुदात हैं ।

११. **स्वरित**—उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व दोनों के मेल से बोले जाने वाले वर्ण स्वरित कहलाते हैं। अवधेय है कि उदात्तत्व-अनुदात्तत्व तथा स्वरितत्व में तीनों धर्म स्वरों में रहते हैं, व्यञ्जनों में नहीं ।

बाह्य प्रयत्न दर्शक तालिका

विवार श्वास अघोष	संवार, नाद घोष	अल्प प्राण	महा प्राण	उदात्त-अनुदात्त-स्वरित
सभी वर्गों के प्रथम द्वितीय वर्ण तथा श्, ष, स	सभी वर्गों के तृतीय चतुर्थ पंचम वर्ण तथा य, व, र, ल,	सभी वर्गों के प्रथम तृतीय पंचम वर्ण तथा य, व, र, ल	सभी वर्गों के द्वितीय चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह	सभी स्वर

वर्णों के स्थान—१. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । २. इचुयशानां तालु । ३. ऋटुरषाणां मूर्धा । ४. लृतुलसानां दन्ताः । ५. उपूपध्मानीयानामोष्ठौ । ६. ञमङणनानां नासिका च । ७. एदैतोः कण्ठतालु । ८. ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । ९. वकारस्य दन्तोष्ठम् । १०. जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । ११. नासिका अनुस्वारस्य ।

नाज्झलौ ॥१०॥

अच्च हल् च अज्झलौ, तुल्यास्यप्रयत्नावपि अज्झलौ परस्परं सवर्णसंज्ञौ न भवतः । अवर्णहकारौ—दण्डहस्तः । इवर्णशकारौ—दधि शीतम् । सवर्णदीर्घत्वं न भवति । वैपाशो मत्स्यः । आनडुहं चर्मेति । "यस्येति च" (अ० सू० ६।४।१४८) इति लोपो न भवति ।

वृत्त्यर्थ—तुल्य स्थान तथा तुल्य प्रयत्न वाले भी अच् तथा हल परस्पर' सवर्णसंज्ञक नहीं होते । जैसे 'दण्ड हस्तः' में अकार तथा हकार, 'दधिशीतम्' में इकार तथा शकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होती । अतः सवर्णदीर्घत्व भी नहीं होता । वैपाशो मत्स्यः, आनडुहं चर्म में सवर्णसंज्ञा न होने से 'यस्येति च' से लोप नहीं होता ।

व्याख्या— इससे पूर्व सूत्र द्वारा तुल्य स्थान तथा तुल्य प्रयत्न वाले वर्णों की सवर्ण संज्ञा की गई थी इस सूत्र में कहा गया है कि 'अचों' तथा हलों की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती, भले ही वे तुल्य स्थान-प्रयत्न वाले हों । यथा 'दण्डहस्तः' में हकार तथा उससे पूर्ववर्ती अकार दोनों ही कण्ठ स्थानीय तथा विवृत प्रयत्न वाले हैं । यहाँ पर उनकी सवर्ण संज्ञा का निषेध किया

गया है। इभी प्रकार 'दधिशीतम्' में इकार तथा शकार दोनों का ही स्थान तालु है। 'इ' का विवृत प्रयत्न है तथा 'श' का ईषद् विवृत, अतः दोनों की सवर्ण संज्ञा प्राप्त थी। प्रस्तुत सूत्र द्वारा उसका निषेध किया गया है।

वैपाशो मत्स्यः—विपाशि भव
तत्रभवः—विपाशि + अण्
तद्धितेष्वचामादेः—वैपाशि + अ
यस्येति च—वैपाश् + अ
वैपाश + सु = वैपाशः

आनुडुहं चर्म—अनडुहस्येदम्।
तस्येदम्, प्राणिरजतादिभ्योऽञ्—
अनडुह + अञ्
तद्धितेष्वचामादेः— आनडुह + अ
यस्येति च—आनडुह् + अ
आनडुह + सु = आनडुहम्

यदि अच् तथा हल् की सवर्णसंज्ञा का निषेध न करते तो 'वैपाशि' में इकार, शकार की सवर्ण संज्ञा होकर इकार के समान शकार का भी लोप प्राप्त था। इसी प्रकार 'आनडुह' में अकार तथा हकार की सवर्ण संज्ञा होकर अकार के साथ हकार का भी लोप हो जाता। 'अच्' तथा 'हल्' की सवर्ण संत्रा का निषेध कर दिये जाने के कारण शकार तथा हकार का लोप नहीं होता।

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥११॥

ईत् उत् एत् इत्येवमन्तं द्विवचनं शब्दरूपं प्रगृह्यसंज्ञं भवति। अग्नी इति। वायू इति। माले इति। पचेते इति। ईदूदेदिति किम्? वृक्षावत्र। प्लक्षावत्र। द्विवचनमिति किम्?। कुमार्यत्र। किशोर्यत्र। तपरमरणमसन्देहार्थम्। प्रगृह्यप्रदेशाः—"प्लुतगृह्या अचि" (अ० सू० ६।१।१२५) इत्येवमादयः। ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीना प्रतिषेधी वक्तव्यः —

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम, दम्पतीव, जम्पतीव, रोदसीव ॥

वृत्यर्थ—'ईत्-उत्-एत्' जिनके अन्त में हों ऐसे द्विवचनान्त शब्द की प्रगृह्य संज्ञा होती है। जैसे—अग्नी इति। वायू इति। पचेते इति। यजेते इति। सूत्र में 'ईत्-उत्-एत्' इसलिए कहा है कि वृक्षौ + अत्र = वृक्षावत्र, तथा प्लक्षौ + अत्र = प्लक्षावत्र में प्रगृह्य संज्ञा न हो। द्विवचन इसलिए कहा है कि किशोरी + अत्र = किशोर्यत्र, तथा कुमारी + अत्र = कुमार्यत्र में प्रगृह्य संज्ञा के प्रदेश 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' आदि सूत्र हैं। वा०—ईदादी की प्रगृह्यसंज्ञा करने में 'मणीव' आदि शब्दों का प्रतिषेध कहना चाहिए। यथा—ये दोनों मेरे प्रिय बछड़े ऊँट की गर्दन पर मणी की तरह (मणीव) लटक रहे हैं। इसी प्रकार 'दम्पतीव, जम्पतीव रोदसीव' में भी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है।

व्याख्या—अग्नी इति
अग्नि+औ
प्रथमयोः पूर्वसवर्णः—अग्नी
इसी प्रकार वायू
माले—माला+औ
औङ आपः—माला+शी (इ)

आद् गुणः—माले इति

पचेते—पच्+लट्
पच्+आताम् (आत्मनेपद)
कर्त्तरि शप्—पच्+शप्+आताम्
पच्+अ+आताम्
आतो ङितः—पच+इय्+ताम्
लोपोव्योर्वलि—पच+इ+ताम्
टित आत्मने पदानां०—पच्+इ+ते
आद् गुणः—पचेते इति

ये सभी शब्द द्विवचनान्त हैं। अतः प्रगृह्य संज्ञा हो गई। प्रगृह्य संज्ञा का फल 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृति भाव होकर सन्धि का अभाव होता है। यदि इस सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा न की जाती तो 'अग्नी इति' में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घत्व प्राप्त था। 'वायू इति' में 'इको यणचि' से यणादेश, तथा 'माले इति', 'पचेते इति' में 'एचोऽयवायावः' से अयादेश प्राप्त था। प्रगृह्य संज्ञा होने से उक्त कार्य नहीं हो पाये।

द्विवचनान्त शब्द रूप ईकारान्त, ऊकारान्त अथवा एकारन्त ही होना चाहिए तभी उसकी प्रगृह्या संज्ञा होगी, अन्यत्र नहीं। यथा—'वृक्षौ अत्र' यहाँ पर 'वृक्षौ' औकारान्त है। अतः प्रगृह्य संज्ञा न होने से 'एचोऽयवायावः' से 'आव्' आदेश होकर वृक्षावत्र बनता है। इसी प्रकार प्लक्षौ अत्र= प्लक्षावत्र।

ईकारान्त, अकारान्त तथा एकारान्त शब्द रूप द्विवचनान्त होंगे, तभी उनकी प्रगृह्य संज्ञा होगी, अन्यथा नहीं। यथा 'कुमारी अत्र, किशोरी अत्र' यहाँ पर ये दोनों शब्द ईकारान्त तो हैं किन्तु एक वचनान्त हैं। अतः प्रगृह्य संज्ञा न होने के कारण इकोयणचि' से यणादेश होकर कुमार्यत्र, किशोर्यत्र शब्द बनते हैं।

ईत्, उत्, एत् में तपरकरण का प्रयोजन यह है कि यदि यहाँ पर तपर न किया जाता तो 'ई, ऊ, ए' इस अवस्था में 'इको यणचि' से सन्धि होकर 'य्, व्, ए' यह रूप बन जाता। तब सन्देह होता कि वस्तुतः ये 'य्, व्, ए' हैं या 'ई, ऊ, ए' हैं। यह सन्देह उत्पन्न नहीं, यही तपर करण का प्रयोजन है। तपर करने से सन्धि नहीं हो पाती। यदि यह कहा जाए कि त्रिमात्रिक प्लुत की प्रगृह्य संज्ञा की निवृत्ति के लिए तपर किया गया है, जिससे कि 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्रानुसार 'ई, ऊ, ए' अपने तत्काल द्विमात्रिक का ही

ग्रहण कराए, त्रिमात्रिक का नहीं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्लुत 'इ ३, उ ३, ए ३' की भी प्रगृह्य संज्ञा इष्ट है। यदि यह कहा जाए कि ह्रस्व 'इ, उ' की निवृत्ति के लिए तपर करण किया गया है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि कहीं पर भी ह्रस्व 'इ,उ' वर्णान्त द्विवचनान्त शब्द नहीं हैं। द्विवचन में 'इ उ' को दीर्घत्व ही हो जाता है। एकार का ह्रस्व होता ही नहीं। अतः तपर करण सन्देह निवृत्ति मात्र के लिए है।

विशेष—'ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः' यह वार्त्तिक महाभाष्य में पठित नहीं है। दम्पतीव आदि शब्दों की सिद्धि के लिए काशिका कार ने ही इसका निर्माण किया है। भाष्य में अनुपलब्ध होने के कारण कैयट, नागेश भट्टोजि आदि ने इस वार्त्तिक का खण्डन करके दम्पतीव आदि शब्दों को अन्य प्रकार से समाधित करने की चेष्टा की है किन्तु इस प्रकार सभी शब्दों का भली भाँति समाधान नहीं हो पाता है। काशिका का वार्त्तिक सर्वथा उपयुक्त तथा निर्दोष है। अन्य स्थानों पर भी काशिकाकार ने इस प्रकार के वार्त्तिक बनाये हैं। इसके विस्तृत विवेचन के लिए लेखक की 'काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन' नामक पुस्तक के पृ० २९३-९५ देखें।

'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते०' यह यह श्लोक महाभारत का ही है। इसके मूल में कथा इस प्रकार हैं कि एक ग्वाला अपने दो बछड़ों को जहीं ले जा रहा था। बछड़े गले में रस्मी एक दूसरे के साथ बंधे हुए थे। मार्ग में उनको एक ऊँट दिखलाई पड़ा गया। ऊंट को देखकर बचड़े विदक गये। ऊंट के खडा होंने पर बछड़े उसकी गर्दन के दोनों ओर लटलने लगे। उनको देखकर बछड़ों के स्वामी ने यह श्लोक कहा है।

अदमो मात् ॥१२॥

अदसः सम्बन्धी यो मकारस्तस्मात्पर ईदूदेतः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति। अमी अत्र। अमी आसते। अमू अत्र। अमू आसते। एकारस्य नास्त्युदाहरणम्। अदस इति किम्? शम्यत्र। दाडिम्यत्र मादिति किम्? अमुकेऽत्र।

वृत्यर्थ—अदस् सम्बन्धी मकार से परे ईत्, ऊत्, एत् की प्रगृह्य संज्ञा होती है। जैसे—अमी अत्र। अमी आसाते। अमू अत्र। अमू आसाते। एकार का कोई उदाहरण नहीं है। 'अदस्' इसलिए कहा है कि 'शम्यत्र, दाडिम्यत्र' में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती। मात्—मकार से परे हो ऐसा इसलिए कहा है कि अमुकेऽत्र में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती।

अमी अत्र	**अमू**–अत्र
अदस् + जस्	अदस् + औ
त्यदादीनामः—अद + जस्	त्यदादीनामः—अद + औ
जशः शी–अद + शी (ई)	रदसोऽसेर्दादुदोमः—अमु + औ
आदगुणः—अदे	प्रथमयोः पूर्वसवर्णः—अमू ।
एत ईद्बहुवचने–अमी	

यहाँ दोनों स्थानों पर प्रगृह्य संज्ञा होकर 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव हो जाता है । शमी अत्र, दाडिमी अत्र में मकार से परे ईकार तो है किन्तु यह मकार 'अदस' सम्बन्धी नहीं है अतः यहाँ 'इकोयणचि' से सन्धि हो जाती है । 'अमुकेऽत्र' में मकार से परे एकार नहीं है अपितु ककार से परे है । अतः प्रगृह्यसंज्ञा न होकर 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूप हो जाता है ।

शे ॥१३॥

शे इत्येतत्प्रगृह्यसंज्ञं भवति । किमिदं शे इति ? सुपामादेशश्छन्दसि । न युष्मे वाजबन्धवः । अस्मे इन्द्राबृहस्पती । युष्मे इति । अस्मे इति । त्वे रायः । मे रायः । त्वे इति। छान्दसमेतदेवैकमुदाहरणम्—अस्मे इन्द्राबृहस्पती

वृत्त्यर्थ—'शे' की भी प्रगृह्य संज्ञा होती है । यह 'शे' क्या है ? यह छन्द में सुपों के स्थान में होने वाला आदेश है । न युष्मे वाजबन्धवः । अस्मे इन्द्राबृहस्पति' केवल यही उदाहरण वेद का है क्योंकि वेद में इसका पाठ है । शेष युष्मे इति आदि उदाहरण लौकिक हैं ।

व्याख्या—छन्द में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेडाड्याजालः' सूत्र से सुपों के स्थान पर 'सु-लुक्' आदि आदेश हो जाते हैं । 'शे' भी इन आदेशों में से एक है । सूत्र में इसी 'शे' आदेश ग्रहण किया गया है । अतः 'काशे, कुशे' आदि में 'शे' प्रगृह्य संज्ञक नहीं होता क्योंकि यह सुपों के स्थान में नहीं है ।

युष्मे—युष्मद् + जस्	**त्वे**
सुपां सु लुक्० - युष्मद् + शे (ए)	युष्मद् + ङि
शेषे लोपः—युष्म + ए	सुपांसुलुक्०— युष्मद् + शे (ए)
अतो गुणे—युष्मे	त्वमावेकवचने—त्वद् + ए
इसी प्रकार अस्मद् + जस् = अस्मे	शेषे लोपः—त्व + ए
	अतोगुणे—त्वे
	इसी प्रकार अस्मद् + ङि = मे

निपात एकाजनाङ् ॥१४॥

एकश्चासावच्च एकाच्, निपातो य एकाच् आङ्वर्जितः स प्रगृह्यसंज्ञो भवति। अ अपेहि। इ इन्द्रं पश्य। उ उत्तिष्ठ। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। निपात इति किम्? चकारात्र। एकाजिति किम्? प्राग्नये वाचमीरय। अनाङिति किम्? आ उदकान्तात् ओदकान्तात्।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्॥

वृत्त्यर्थ — एक अच् को एकाच् कहते हैं। आङ् को छोड़कर जो एकाच् निपात है वह प्रगृह्य संज्ञक होता है। अ अपेहि। इ इन्द्रं पश्य। उ उतिष्ठ। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। यहाँ सर्वत्र प्रगृह्य संज्ञा होने से सन्धि नहीं होती। निपात इसलिए कहा है कि 'चकारत्र' 'जहारात्र' यहाँ पर प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती। एकाच् इसलिए कहा है कि प्राग्नये वाचमीरय में 'प्र' निपात अनेकाच् होने से प्रगृह्य संज्ञक नहीं होता। 'आङ्' को छोड़ कर इस लिए कहा है कि 'आ उदकान्तात्' में आ की प्रगृह्य संज्ञा न होकर गुण सन्धि होकर 'ओदकान्तात्' बन जाता।

कारिकार्थ——ईषत् अर्थात् थोड़े अर्थ में, क्रियायोग, मर्यादा तथा अभि विधि में 'आ'को ङित् नहीं माना जाता।

व्याख्या——'चकार+अत्र, जहार+अत्र' यहाँ पर चकार, जहार में रेफस्थ अकार निपात नहीं है। अतः प्रगृह्य संज्ञा न होकर सन्धि होकर चकारात्र, जहारात्र रूप बनते हैं। प्र+अग्नये में 'प्र' निपात तो है किन्तु एकाच् नहीं है क्योंकि इसमें 'प् र् अ' में तीन वर्ण समाविष्ट हैं। वही निपात प्रगृह्यसंज्ञक होगा जो केवल एक 'अच्' होगा। उसके साथ हल आदि कुछ भी नहीं होना चाहिए। अतः प्रगृह्या संज्ञा न होकर सन्धि होकर प्राग्नये रूप बनता है।

सूत्र में 'अनाङ्' कहा है। अर्थात् 'आङ्' को छोड़कर ही यह सूत्र प्रगृह्य संज्ञा करता है। उक्त कारिका यह स्पष्ट करने के लिए दी है कि 'आ' को कहां पर ङित् माना जाए तथा कहाँ पर अङित् माना जाए। जहाँ अङित् होगा वहाँ वहाँ प्रगृह्या संज्ञा हो जायेगी। आ+उष्ण=ओष्ण यहाँ पर 'आ' ईषदर्थ में है। आ+इतः=एत में क्रियायोग में है। आ+उदकान्तत् =ओदकान्तत् में मर्यादा अर्थ अर्थ में है तथा आ+अहिच्छत्रात्=आहिच्छात् में अभिविधि अर्थ में 'आ' है। अतः चारों स्थानों पर इसे 'ङित्' माना गया है। जिसके फलस्वरूप प्रगृह्य संज्ञा न होकर सर्वत्र सन्धि हो गयी।

मर्यादा—बिना तेन मर्यादा। अर्थात् उससे पूर्व पूर्व मर्यादा कहलाती है। ओदकान्तात् का अर्थ है—उदकान्तात् से पहले पहले। **अभिविधि**—सह तेन अभिविधि। अर्थात् अभिविधि में उसके सहित अर्थ होता है आह्लिच्छत्रात् का अर्थ है–आहिच्छत्र सहित। वाक्य तथा स्मरण अर्थ में 'आ' को अङित् मानते है। यथा–'आ एवं नुमन्यसे' में वाक्यार्थ तथा 'आ एवं किल तत्' में स्मरणार्थ में 'आ' का प्रयोग है। फलतः यह अङित् माना गया है। अतः प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि निषेध हो गया।

ओत् ॥१५॥

वृत्ति—निपात इति वर्तते। तस्यौकारेण तदन्तविधिः। ओदन्तो यो निपातः स प्रगृह्यसंज्ञो भवति। आहो इति। उताहो इति।

निपात की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आ रही है। उसकी ओकार के साथ तदन्त विधि है। ओदन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है। आहो इति। उताहो इति।

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ॥१६॥

ओदिति वर्त्तते। सम्बुद्धिनिमित्तो य ओकारः स शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञो भवति इति शब्देऽनार्षेऽवैदिके परतः। वायो इति, वायविति। भानो इति, भानविति। सम्बुद्धाविति किम्? गवित्ययमाह। अत्रानुकार्यानुकरणयो र्भेदस्याविवक्षितत्वात् असत्यर्थवत्त्वे विभक्तिर्न भवति। शाकल्यग्रहणं विभाषार्थम्। इताविति किम्? वायोऽत्र। अनार्ष इति किम्? एता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्।

वृत्त्यर्थ—'ओत्' की अनुवृत्ति आ रही है। सम्बुद्धि निमित्तक जो ओकार, वह प्रगृह्य संज्ञक होता है यदि उससे परे अवैदिक इति शब्द हो तो। वायो इति वायविति। भानो भानविति। सम्बद्धि निमित्तक ओकार इसलिए कहा है कि सम्बुद्धि भिन्न ओकार की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती। जैसे—गवमित्याह, यहाँ अनुकार्य तथा अनुकरण के भेद की विवक्षा न होने से अर्थवान् न होने पर विभक्ति नहीं होती है। शाकल्य का ग्रहण विकल्प के लिए है। 'इति परे हो' ऐसा इसलिए कहा है कि 'वायोऽत्र' में इति परे न होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती। अनार्ष इसलिए कहा है कि 'एता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्' में आर्ष इति शब्द परे होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा न होकर सन्धि हो जाती है।

व्याख्या—शाक्ल्य का ग्रहण विकल्प के लिए है जिससे केवल शाक्ल्य के मत में ही प्रगृह्य संज्ञा होकर वायो इति भानो इति रूप बनते हैं। पाणिनि

के अनुसार तो यहाँ प्रगृह्य संज्ञा न होकर 'एचोऽयवायावः' से सन्धि होकर वायविति तथा भानविति रूप बनते हैं। सम्बुद्धि के ओकार की ही प्रगृह्य संज्ञा होती है, सम्बुद्धि भिन्न की नहीं। यथा—किसी व्यक्ति ने 'गौ' के स्थान पर 'गो' कह दिया। जब अन्य व्यक्ति ने इसका अनुकरण किया तो 'गावमित्याह' बनेगा अनुकार्य तथा अनुकरण में भेद की विवक्षा नहीं है। इसलिए 'गो इत्ययमाह' में विभक्ति नहीं लगती अन्यथा गोः इति = गोरिति।

उञः ॥१७॥

शाकल्यस्येताविति वर्त्तते। उञः प्रगृह्यसंज्ञो भवति इतौ शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन शाकल्यस्येति विभाषार्थम्। उ इति। विति।

वृत्त्यर्थ—शाकल्य तथा इतौ पदों की अनुवृत्ति आ रही है। शाकल्य आचार्य के मत में 'उञ्' की प्रगृह्य संज्ञा होती है यदि इति परे हो तो शाकल्य का ग्रहण विकल्प के लिए है। जिससे 'उ इति' तथा 'विति' दो रूप बनते हैं।

विशेष—भट्टोजि दीक्षित ने प्रौढ़ मनोरमा में इस सूत्र पर काशिका द्वारा दिये गये प्रत्युदाहरण 'गवित्ययमाह' का खण्डन किया है। उनका तर्क है कि यहाँ पर प्रगृह्यसंज्ञा होने पर भी प्रकृतिभाव प्राप्त नहीं होगा क्योंकि प्रकृति भाव विधायक सूत्र 'प्लुत प्रगृह्या अचि०' में पदान्त की अनुवृत्ति आ रही है। 'गवित्ययमाह' में विभक्त्यन्त न होने से 'गो' की पद संज्ञा प्राप्त नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रोढमनोरमा कुचमर्दिनी में भट्टोजि के उक्त विचार का खण्डन करते हुए काशिका का समर्थन किया है। पण्डिराज 'प्लुत प्रगृह्या०' में पदान्त की अनुवृत्ति नहीं मानते हैं।

ऊँ ॥१८॥

उञ इति वर्त्तते। उञ इतावनार्षे ऊँ इत्ययमादेशो भवति दीर्घोऽनुनासिकः शाकल्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञकश्च। शाकल्यस्य ग्रहणं विभाषार्थमिहाप्यनुवर्त्तते। तेन त्रीणि रूपाणि भवन्ति—उ इति, विति, ऊँ इति॥

वृत्त्यर्थ—पूर्व सूत्र से 'उञ्' की अनुवृत्ति आ रही है। अवैदिक 'इति' शब्द परे रहने पर 'उञ्' के स्थान पर 'ऊँ' यह दीर्घ तथा सानुनासिक आदेश होता है। शाकल्य का ग्रहण विकल्प के लिए यहां पर भी आ रहा है। इसलिए तीन रूप बनते हैं—उ इति। विति। ऊँ इति। इनमें दो रूप शाकल्य के मत से बनते हैं—उ इति तथा ऊँ इति। यहाँ दोनों स्थानों पर

प्रगृह्य संज्ञा हो रही है। 'विति' रूप अन्य आचार्यों के मत में है। यहाँ प्रगृह्य संज्ञा न होकर सन्धि हो गई।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥१९॥

शाकल्यस्येतावनार्षः इति निवृत्तम्। ईदन्तमूदन्तं च शब्दरूपं सप्तम्यर्थे वर्त्तमानं प्रगृह्यसंज्ञं भवति। अध्यस्यां मामकी तनू। मामक्यां तन्वामिति प्राप्त मामक्याम्, मासकी इति तन्वाम्, तनू इति। सोमो गौरी अधिश्रितः। ईदूताविति किम्? प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवति। अग्निशब्दात्परस्याः सप्तम्या डादेशः। सप्तमीग्रहणं किम्? धीति, मती, सुष्टुती। धीत्या मत्या सुष्टुत्या इति प्राप्ते। अर्थग्रहणं किम्? वाप्यश्वः, नद्यातिः। तपरकरणमसन्देहार्थम्॥

ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत्।
पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ॥१॥
वचनाद्यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि।
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥२॥

वृत्त्यर्थ—इस सूत्र में 'शाकल्यस्य' 'इतौ'' तथा 'अनार्षे' इन तीनों शब्दों की निवृत्ति हो गई। सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान ईदन्त तथा ऊदन्त शब्दों की प्रगृह्य संज्ञा होती है। जैसे—अध्यस्यां मामकी तनू। यहाँ पर 'मामक्यां तन्वाम्' ऐसा रूप प्राप्त होने पर 'तनू' रूप बना है। 'सोमो गौरी अधिश्रितः' यहाँ भी प्रगृह्य संज्ञा होती है। ईदन्त ऊदन्त की ही प्रगृह्य संज्ञा इसलिए कही है कि 'प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति' में 'अग्नि' शब्द से परे सप्तमी के एकवचन 'ङि' के स्थान में 'डा' आदेश होकर 'अग्ना रूप बनता है। सप्तमी ग्रहण इसलिए किया है जि 'धीती, मती, सुष्टती' यहाँ पर प्रगृह्य संज्ञा न हो जाए। ये तीनों रूप क्रमशः 'धीत्या, मत्या, सुष्टुत्या' के स्थान पर बने हैं। अर्थग्रहण इसलिए किया है कि वाप्यश्व, नद्याति में प्रगृह्य संज्ञा न हो। तपर करण असन्देह के लिए है।

व्याख्या—सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान ईदन्त तथा ऊदन्त शब्दों की प्रगृह्य संज्ञा होती है। 'अध्यस्यां मामकी तनू' यहाँ पर 'मामक्याम्' तथा 'तन्वाम्' सप्तमी में ये रूप प्राप्त थे। 'सुपां सुलुक्०' सूत्र से सप्तमी विभक्ति (ङि) का लुक् होकर मामकी तथा तनू रूप बनाते हैं। सप्तमी के अर्थ में वर्तमान होने के कारण इनकी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार 'सोमो गौरी अधिश्रितः' यहाँ भी पूर्ववत्, सप्तमी विभक्ति का लोप होकर 'गौर्याम्' के स्थान पर 'गौरी' बना है। यह भी सप्तमी के अर्थ में वर्तमान है। अतः प्रगृह्य संज्ञा हो गई। 'प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति' में 'अग्ना' शब्द भी

सप्तमी के अर्थ में वर्तमान है किन्तु ईकारान्त नहीं है। अतः प्रगृह्या संज्ञा नहीं होती। यहाँ पर 'अग्नि' शब्द से 'ङि' के स्थान पर 'सुपां सुलुक्०' से 'डा' आदेश होकर 'अग्ना' रूप बनता है। सूत्र में सप्तम्यर्थ' का ग्रहण करने से 'धीती, मती, सुष्टुती' में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती क्योंकि ये तीनों शब्द ईकारान्त तो हैं किन्तु सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान नहीं हैं। यहाँ पर धीति, मति तथा सुष्टुति शब्दों से तृतीय एक वचन (टा) के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर उक्त रूप बनते हैं।

अर्थ ग्रहण इसलिए किया गया है कि वर्त्तमान शब्द ही सप्तमी के अर्थ में स्थित होना चाहिए। यदि कोई शब्द पहले तो सप्तमी के अर्थ में था किन्तु बाद में सप्तमी के अर्थ में नहीं रहा तो वहां पर प्रगह्य संज्ञा नहीं होगी। यथा—वाप्यश्वः तथा नद्याति शब्दों में सप्तमी समास है। समास से पूर्व—'वाप्यामश्व' तथा 'नद्यामाति' ऐसा रूप था। यहाँ पर तो सप्तमी अर्थ विद्यमान है। परन्तु समास हो जाने पर समस्त पद सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान नहीं रहता। अतः प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। 'ईदूतौ' में प्लुत की निवृत्ति के लिए तपर करण नहीं किया गया है क्योंकि कहीं पर भी सप्तमी के अर्थ में प्लुत ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द नहीं मिलते हैं। तपर का प्रयोजन यह है कि यदि तपर न करें तो 'ई ऊ औ' यहां पर यणादेश होकर 'य् व् औ' बन जायेगा। इससे सन्देह उत्पन्न होगा कि 'ई, ऊ' का ग्रहण है या 'य्, व्, का। तपर करने से सन्देह निवृत्ति हो जाती है।

कारिका की व्याख्या—

शङ्का—**ईदूतौ च सप्तमीत्येव**—'इदूतौ च सप्तमी' इतना सूत्र बनाने से ही कार्य चल जायेगा। सूत्र में अर्थ किस लिए किया गया है ?

समाधान—लुप्तेऽर्थग्रहणाद्‌ भवेत्—अर्थ ग्रहण इसलिए किया गया है कि सप्तमी विभक्ति का लोप हो जाने पर भी अर्थ ग्रहण करने के कारण प्रगृह्य संज्ञा हो जाए। यथा—'सोमो गौरी अधिश्रितः' यहाँ पर 'गौरी' से सप्तमी विभक्ति का लोप हो गया है किन्तु अभी भी यह सप्तमी के अर्थ में वतंमान है। अर्थ ग्रहण करने से यहाँ भी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

शङ्का—'सोमो गौरी अधिश्रित' में सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है अपितु 'गौरी+ङि=गौरी+इ' इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर गौरी बन जाता है। अतः सूत्र में अर्थ ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

समाधान—पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते—यदि कहा जाए कि उक्त उदाहरण में पूर्वसवर्ण दीर्घ हो गया है तो यह कहना ठीक नहीं है

क्योंकि 'वर्ण के कार्य से अङ्ग का कार्य बलवान् होता है' इस परिभाषा के अनुसार 'गौरी+ङि' यहाँ पर पूर्वसवर्ण को बांधकर 'आण्नद्याः' से आट् आगम तथा 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः', सूत्र से 'आम्' आदेश प्राप्त होगा। ये दोनों कार्य अङ्ग को होते हैं जबकि पूर्व सवर्ण दीर्घ वर्ण के आश्रित है। अतः पूर्व सवर्ण दीर्घ प्राप्त नहीं होगा। विभक्ति का लोप ही होगा जिसके लिए सूत्र अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का—'ईदूतौ च सप्तमी' केवल इतना ही सूत्र बनाने पर आचार्य के वचन सामर्थ्य से सप्तमी विभक्ति का लोप होने पर भी प्रगृह्य संज्ञा हो जायेगी, क्योंकि सर्वत्र ही विभक्ति का लोप हो जायेगा तथा आचार्य का सूत्र तभी सार्थक हो सकेगा जबकि लोप होने पर भी प्रगृह्य संज्ञा हो जाए।

समाधान—वचनाद्यत्र दीर्घत्वम्—विभक्ति का लोप नहीं होगा अपितु 'दृति न शुष्कं सरसी शयानम्' यहाँ पर 'सरस्+ङि' इस अवस्था में 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' वार्त्तिक द्वारा 'ङि' के स्थान पर ईकारादेश हो कर 'सरसी' शब्द बना है। आचार्य का वचन यहाँ पर सावकाश हो जायेगा। अतः 'सोमो गौरी अधिश्रितः' में प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त नहीं हो पायेगी जिसके लिए सूत्र में अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

तत्रापिस रसी यदि—'सोमो गौरी अधिश्रितः' में प्रगृह्य संज्ञा सिद्ध हो जायेगी क्योंकि लोक में प्रथमान्त सरसी शब्द भी विद्यमान है। यथा—'दक्षिणापथे महान्ति सरसी सरस्यः" यहाँ पर प्रथमान्त 'सरसी' शब्द विद्यमान हैं। गौरादि गण के अन्तर्गत पिप्ल्यादि गण का पाठ होने के कारण, पिप्ल्यादि गण में पठित 'सरस्' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय होकर प्रथमान्त 'सरसी' शब्द सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रथमान्त 'सरसी' शब्द की प्राप्ति होने पर 'सोमो गौरी अधिश्रितः' आदि प्रयोगों में सप्तमी विभक्ति का लोप हो जाने पर भी आचार्य के वचन प्रमाण से प्रगुह्य संज्ञा हो जाया करेगी। सूत्र में अर्थग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे—इस प्रकार सूत्र में किया गया अर्थग्रहण निरर्थक होकर ज्ञापक बनता हैं कि तदन्त पक्ष में प्रगृह्य संज्ञा न हो। यथा—'कुमारी+ओस्+अगारम्, वधू+ओस्+अगारम्, यहाँ समास होने में 'ओस् विभक्ति का लोप होकर 'कुमार्यगारम्' इस अवस्था में प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त है क्योंकि प्रत्ययलक्षण के द्वारा ये शब्द ईदाद्यन्त भी हैं तथा द्विवचनान्त भी भी हैं। यदि यहाँ पर प्रत्यय लक्षण के द्वारा प्रगृह्य सूत्र में अर्थ ग्रहण किया गया है अतः इससे यह ज्ञापक निकलता है कि प्रत्यय का लोप होने पर

प्रत्यय लकार के द्वारा प्रगृह्य संज्ञा न हो। इससे उक्त दोनों रूपों में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। इसी प्रकार को स्पष्ट करते हुए प्रदीप में कैयट ने लिखा है—तत् क्रियमाणमर्थग्रहणंप्रत्ययलक्षणाभावं सूचयति।

मा व ।पूर्वपदस्य भूत्—यदि यह कहा जाए कि 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न भवति' परिभाषा के आधार पर ही यहाँ पर तदन्त विधि नहीं लगेगी जिससे प्रत्यय लक्षण द्वारा प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी तो अर्थ ग्रहण का दूसरा प्रयोजन बतलाते हैं—मा वा पूर्वपदस्य भूत्। यथा—वापी+ङि+अश्व+सु, नदी+ङि+ाति+सु यहाँ 'वाप्यामश्वोवाप्यश्वः, नद्यामातिर्नद्यातिः' समास करने पर प्रगृह्य संज्ञा न हो जाए। यहाँ 'वाप्यश्व' तथा 'नद्याति' ये समस्त पद सार्थक हैं इनका एक देश 'वापी' तथा 'नदो' अनर्थक है। यहाँ यहाँ सप्तमी का अर्थ नहीं है अतः प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी। सोमो गौरी अधिश्रितः' आदि में जहां प्रत्यय जा लुक् होने पर भी सप्तमी का अर्थ रहे, वहीं पर प्रगृह्य संज्ञा होगी। अन्यत्र नहीं। इसीलिए सूत्र में अर्थग्रहण किया गया है।

दाधाध्वदाप् ॥२०॥

दारूपाश्चत्वारो धातवो धारूपौ च द्वौ दाब्दैपौ वर्जयित्वा घुसंज्ञका भवन्ति। डुदाञ्, प्रणिददाति। दाण् दाने, प्रणिदाता। दो, प्रणिद्यति। देङ्, प्रणिदयते। डुधाञ्, प्रणिदधाति। धेट्, प्रणिधयति वत्सो मातरम्। अदाविति किम्। दाप् लवने, दातं बर्हिः। दैप् शोधने। अवदातं मुखम्‌ घुप्रदेशाः—घुमास्थागापाजहातिसां हलि" (अ० सू० ६।४।६६) इत्येवमादयः (१)॥

वृत्त्यर्थ—'दाप्' तथा 'दैप' धातुओं को छोड़ कर 'दा' रूपवाली चार धातु तथा 'धा' रूप वालो दो धातु 'घु' संज्ञक होती हैं। √डुदाञ् (देना) से प्रणिददादि √दाण् (देना) से प्रणिदाता, √दो (बांटना या काटना) से प्रणिद्यति, √देङ् (रक्षा करना) से प्रणिदयते, √डुधाञ् (धारण तथा पोषण) से प्रणिदधाति, √धेट् (पान करना) से प्रणिधयते ये ६ रूप सिद्ध होते हैं। इन धातुओं की 'घु' संज्ञा होकर 'नेर्गदनदपत पद०' सूत्र से उपसर्ग के नकार को णत्व होकर उक्त रूप बनते हैं। 'अदाप्' इसलिए कहा है कि 'दाप्' (काटना)—दातं बर्हि तथा 'दैप' (शोधन करना)—अवदात्तं मुखम्, यहां पर 'घु' संज्ञा नहीं होती। 'घु' संज्ञा के प्रदेश 'घुमास्थागायजहातिसां हलि' आदि सूत्र हैं।

√डुदाञ् तथा √दाण् के अनुबन्धों का लोप होकर 'दा' शेष बचता है तथा √दो एवं √देङ् को आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र से आकार आदेश होकर 'दा' ही बन जाता है। इसीलिए इन चारों धातुओं को 'दा' रूप वाली कहा है। इसी प्रकार √धेट् को भी उक्त सूत्र से आकारादेश

होकर 'धा' बन जाता है । √धेट् तथा √डुधाञ् दोनों 'धा' रूप वाली है । इन धातुओं की ही 'घु' संज्ञा होती है, शेष की नहीं । 'घु' संज्ञा होने से 'प्रणिददाति' आदि प्रयोगों में सर्वत्र 'नेर्गदनदपतपद०' सूत्र से णत्व 'नि' के स्थान पर 'णि' हो जाता है । सूत्र में 'अदाप्' इसलिए कहा है कि √दाप् (काटना) धातु भी 'दा' रूप वाली है । अतः इसकी 'घु' संज्ञा न हो जाए । घु संज्ञा न होने से 'दांत बर्हि' यहाँ पर 'दो दद् घोः' सूत्र से 'दद्' आदेश नहीं होता । √दैप् (शोधित करना) भी 'दा' रूप वाली है क्योंकि 'आदेच उपदेशे ऽशिति' सूत्र से इसे 'दा' बन जाता है 'अदाप्' कहने से इसकी भी 'घु' संज्ञा न होने से 'अवदातं मुखम्' यहाँ 'अच उपसर्गात्तः' सूत्र से 'त' आदेश नही होता ।

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥२१॥

असहायस्य आद्यन्तोपदिष्टानि कार्याणि न सिद्ध्यन्तीत्ययमतिदेश आरभ्यते । सप्तम्यर्थे वतिः । आदाविवअन्त इव एकस्मिन्नपि कार्यं भवति । यथा कर्तव्यमित्यत्र प्रत्ययाद्युदात्तत्व भवति एवमौपवमित्यत्रापि यथा स्यात् । यथा वृक्षाभ्यामित्यत्रातोऽङ्गस्य दीर्घत्वमेवमाभ्यामित्यत्रापि यथा स्यात् । एकस्मिन्निति किम्, सभासन्नयने भवः साभासन्नयनः । आकार-माश्रित्यः वृद्धिसंज्ञा न भवति ॥

वृत्त्यर्थ—असहाय अर्थात् अकेले वर्ण या अक्षर में आदि तथा अन्त को उपदिष्ट कार्य नहीं हो सकते इसीलिए यह अतिदेश प्रारम्भ किया गया है । यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'वति' प्रत्यय है । एक वर्ण में भी आदि के समान तथा अन्त के समान कार्य होते हैं । जैसे 'कर्त्तव्यम्' में 'तव्यत्' प्रत्यय आदिउदान्त होता है वैसे ही 'औपगवम्' में 'अण्' प्रत्यय भी आद्युदात्त हो जाए । जिस प्रकार 'वृक्षाभ्याम्' यहाँ पर 'वृक्ष' इस अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो रहा है वेसे ही 'आभ्याम्' यहाँ पर भी दीर्ध हो जाए । सूत्र में 'एकस्मिन्' पद का ग्रहण इसलिए किया है कि जो वर्ण असहाय या अकेला नहीं है, उसे आदि तथा अन्त के समान कार्य नहीं होता । यथा—सभासन्नयन में उत्पन्न—साभासन्नयन । यहां साभासन्नयन में 'भा' के आकार के आश्रय से वृद्ध संज्ञा नहीं होती है ।

औपगवः—उपगोरपत्यम्	कर्त्तव्यम्—कृ+तव्य
प्राग्दीव्यतोऽण्, उपगु+अण्	सार्वधातुका० उरण् रपरः
तद्धितेष्व० औपगु+अ	कर्+तव्य
सार्वधातुका० औपगो+अ	कर्त्तव्य+सु
एचोऽयवायावः औपगव्+अ	अमिपूर्वः—कर्त्तव्यम्
औपगव+सु=औपगवः	

'आद्युदात्तश्च' सूत्र प्रत्यय को आदि उदात्त करता है। अतः 'कर्त्तव्यम्' में तो 'तव्य' के आदि भाग 'त' को उदात्त प्राप्त है किन्तु 'औपगवः' में 'अ' प्रत्यय को उदत्त प्राप्त नहीं होगा क्योंकि यहाँ पर 'अ' अकेला ही है। इस सूत्र से अकेले 'अ' को भी आदिवत् मानकर इसे उदात्त हो गया।

वृक्षाभ्याम्—वृक्ष + भ्याम्	आभ्याम्—इदम् + भ्याम्
सुपि च—वृक्षाभ्याम्	त्यदादीनामः—इद + भ्या
	हलिलोपः—अ + भ्याम्म्
	सुपि च—आ + भ्याम्

'सुपि च' सूत्र अदन्त अङ्ग को दीर्घ करता है। यहां पर 'वृक्षाभ्याम्' में तो वृद्धि प्राप्त है क्योंकि वृक्ष शब्द अदन्त है किन्तु 'अ + भ्याम्' यहाँ पर 'अ' अकेला है। अतः वृद्धि प्राप्त नहीं है। इस सूत्र से 'अ' को भी अदन्त मान कर वृद्धि हो जाती है।

असहाय=अकेले वर्ण को ही आदि तथा अन्त के समान कार्य होते हैं, अन्य को नहीं। यथा सभासन्नयन में 'भा' का आकार अकेला नहीं है क्योंकि यह मध्य में विद्यमान है। अतः यहां पर 'वृद्धिर्यस्याचामादि॰' सूत्र से वृद्ध संज्ञा नहीं होती। यदि यहां पर वृद्ध संज्ञा हो जाती तो 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय प्राप्त होकर 'साभासन्नयनीय' यह अनिष्ट रूप बनता। अब 'अण्' प्रत्य होकर साभासन्नयनीय रूप बनता है।

तरप्तमपौ घः ॥२२॥

तरप् तमप् इत्येतौ प्रत्ययौ घसंज्ञौ भवतः। कुमारितरा। कुमारितमा ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणितमा। घप्रदेशा 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्व' (अ॰ सू॰ ६।३।४३) इत्येवमादयः ॥

वृत्त्यर्थ—'तरप्' तथा 'तमप्' ये दो प्रत्यय 'घ' संज्ञक होते हैं। जैसे—कुमारितरा। कुमारितमा। ब्राह्मणितरा ब्राह्मणितमा। 'घ' संज्ञा के प्रदेश हैं—'घ रूप कल्प॰' आदि सूत्र कुमारितरा आदि चारों उदाहरणों में इस सूत्र से ही दीर्घ ईकार के स्थान पर ह्रस्व इकार हो रहा है।

बहुगणवतुडति संख्या ॥२३॥

बहुगणवतुडति इत्येते संख्यासंज्ञा भवन्ति बहुकृत्वः। बहुधा। बहुकः। बहुशः। गणकृत्वः। गणधा। गणकः। गणशः। तावत्कृत्वः। तावद्धा। तावत्कः। तावच्छः। कतिकृत्वः। कतिधा। कतिकः। कतिशः। बहुगणशब्दयोपुर्वैल्ये सङ्घे च वर्तमानयोरिह ग्रहणं नास्ति। संख्यावाचिनोरेव। भूर्यादीनां निवृत्यर्थं संख्यासंज्ञा विधीयते ॥ अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्यान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यं समासकन्विध्यर्थम् ॥१॥ अर्धपञ्चमशूर्पः। अर्द्धं पञ्चमं येषामिति बहुव्रीहौ कृतेऽर्द्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतः।

तद्धितार्थेति समासः तत्र 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (अ० सू० २।१।५०) इत्यनुवृत्तेस्ततः संख्यापूर्वस्य द्विगुसंज्ञयां शूर्पादञन्यतरस्याम्" (अ० सू० ५।१२६) इत्यञ् ठञ्च । "अर्द्धचर्द्धपूर्वाद्द्विगोः" (अ० सू० ५।१।२६) इति लुक् । अर्द्धपञ्च कः । संख्याप्रदेशाः—"संख्यावंश्येन" (अ० सू० ४।१।१६) इत्येवमादायः ।

वृत्त्यर्थ—'बहु' शब्द, 'गण' शब्द, 'वतु' प्रत्ययान्त तथा 'डति' प्रत्ययान्त शब्दों की संख्या संज्ञा होती । बहुकृत्व आदि उदाहरण हैं आधिक्य तथा संघ अर्थ में वर्त्तमान बहु तथा गण शब्दों का यहाँ पर ग्रहण नहीं किया गया है अपितु संख्यावाचियों का ही ग्रहण हैं भूरि आदि की निवृत्ति के लिए संख्या संज्ञा की जाती है ।

वार्त्तिक—जिसके पूर्वपद में अर्ध शब्द हो ऐसे पूरण प्रत्ययान्त शब्दों की समास विधि तथा 'कन्' विधि के लिए संख्या संज्ञा कहनी चाहिए । जैसे—अर्धपञ्चमशूर्पः । यहां पर 'अर्ध पञ्चम' शब्द बना । अब 'अर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतः' इस विग्रह में 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' सूत्र में 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आने से तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास हुआ । वार्त्तिक द्वारा अर्धपञ्चम, शब्द की संख्या संज्ञा होने से 'संख्यापूर्वो द्विगुः' सूत्र से 'द्विगु' संज्ञा हुई । 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' सूत्र से 'अञ्' तथा 'ठञ्' होकर 'अर्ध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुक् संज्ञायाम्' सूत्र से इन प्रत्ययों का लुक् होकर अर्धपञ्चमशूर्पः शब्द सिद्ध हुआ । इसी प्रकार 'कन्' प्रत्यय होकर अर्धपञ्चमकः शब्द सिद्ध होता है । संख्या संज्ञा का फल 'संख्या वंश्येन' आदि सूत्रों में है ।

व्याख्या—सूत्र में पठित 'बहु' तथा 'गण' दो शब्द हैं जिनकी संख्या संज्ञा होती है । 'वतु' तथा 'डति' दोनों प्रत्यय हैं । अतः संख्या होकर इन शब्दों से 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्सुच्' से कृत्वसुच् प्रत्यय होकर—बहुकृत्व् गणकृत्व रूप बनते हैं । 'संख्याया विधार्थे धा' प्रत्यय होकर—बहुधा, गणधा, तावद्धा, कतिधा शब्द बनते हैं । 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' से 'कन्' प्रत्यय होकर बहुकः—गणकः, तावत्कः, कातिकः शब्द बनते हैं । 'बह्वल्पार्थात् संख्यैकवचनात्' से 'शस्' प्रत्यय होकर—बहुशः, गणशः, तावच्छः, तथा कतिशः रूप बनते हैं ।

तावत्—तद्	**कति—किम्**
यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्	किमः संख्या०—किम्+डति
तद्+वतुप्	टेः—क्+अति
आसर्वनाम्नः—त अ+तत्	कति
अकः सवर्णे दीर्घः—तावत्	

बहु शब्द का विपूलता तथा गण शब्द का संघ अर्थ भी होना है किन्तु प्रस्तुत सूत्र में इन अर्थों के वाचक बहु गण शब्दों का ग्रहण न करके संख्या-वाचकों का ही ग्रहण है । इस सूत्र में बहु-गण शब्दों का ग्रहण होने से भूरि-प्रभूत आदि शब्दों की संख्या संज्ञा नहीं होती ।

संख्या के क्रम को दिखलाने वाला प्रत्यय 'पूरण' प्रत्यय कहलाता है । यथा—द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, यहाँ पर तीय, डट्, तथा मट् प्रत्यय पूरणार्थक हैं । जिससे आदि में 'अर्ध' हो, ऐसा पूरण प्रत्ययान्त शब्द भी संख्या संज्ञक होता है, यह वार्तिक का अर्थ है । इसकी संख्या संज्ञा करने का फल समास तथा 'कन्' विधि हैं । यथा समासविधि—अर्धपञ्चमशूर्पः ।

अर्ध पञ्चमशूर्पः—अर्धं पञ्चमं येषां शूर्पाणां ते अर्धपञ्चम ।

अर्ध+सु पञ्चम+सु

तद्धितार्थोत्तर० से समास

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः—अर्ध पञ्चम

अर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतः—अर्धपञ्चमशूर्पः ।

अर्धपञ्चम+भिस् शूर्प+भिस्

तद्धितार्थोत्तर० से समास

सुपो धातुप्राति०—अर्धपञ्मशूर्पः

तद्धितार्थोत्तर० सूत्र में 'दिक् संख्ये' की अनुवृत्ति आ रही है । अर्धपञ्चम-शूर्प' की द्विगु संज्ञा हो गई । द्विगु संज्ञा होकर क्रीत अर्थ में 'शूर्पादञन्यतर-स्याम्' सूत्र से 'अञ्' तथा 'ठञ्' प्रत्यय प्राप्त होकर उनका 'अर्ध्यर्धपूर्वद्वि-गोर्लुक् संज्ञायाम्' से लुक् होकर 'अर्धपञ्चमशूर्प' रूप बना ।

आर्धपञ्चकमकः—पूर्ववत् अर्धपञ्चम शब्द निष्पन्न होकर उससे 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' सूत्र से 'कन्' प्रत्यय होकर यह रूप बनता है ।

ष्णान्ता षट् ॥२४॥

स्त्रीलिंगनिर्देशात् संख्येति सम्बध्यते । षकारान्ता नकारान्ता च या संख्या सा षट्संज्ञा भवति । षकारान्तास्तावत् । षट् तिष्ठन्ति । षट् पश्य । नकारान्ताः—पञ्च । सप्त । नव दश । अन्तग्रहणमौपदेशिकार्थम् । तेनेह न भवति । शतानि । सहस्राणि । अष्टानामित्यत्र नुड् भवति । षट्प्रदेशाः "षड्भ्यो लुक्" (अ०सू० ७।१।२२) इत्येवमादयः ।

वृत्त्यर्थ—'ष्णान्ता' में स्त्री लिंग का निर्देश होने के कारण इसका 'संख्या' के साथ सम्बन्ध होता है । जिसका अर्थ है कि षकारान्त तथा नका-रान्त संख्या वाची शब्दों की 'षट्' संज्ञा होती है । षकारान्तों के उदाहरण—

षट् तिष्ठन्ति । षट् पश्य । नकारान्तों के उदाहरण—पञ्च । सप्त । नव । दश । 'षणान्ता' में अन्त ग्रहण इसलिए किया है कि जो शब्द उपदेश = मूलरूप में णकारान्त तथा नकारान्त हों, उनकी ही षट् संज्ञा होगी, अन्य की नहीं । इससे 'शतानि, सहस्राणि' यहां पर षट् संज्ञा नहीं होती तथा 'अष्टानाम्' यहाँ भी षट् संज्ञा हो जाती है ।

व्याख्या—षट् तिष्ठन्ति
षष् + जस्
षड्भ्योलुक्—षष्
झलां जशोऽन्ते—षड्
वावसाने—षट्
षट्पश्य—षट् + शस् (पूर्ववत्)

शतानि—शत + जस्
जश्शसोः शि—शत + शि
सर्वनाम स्थाने० शता + न् + इ
= शतानि
इसी प्रकार सहस्र + जस् = सहस्राणि

अष्टानाम्—अष्टन् + आम्
अष्टन आविभक्तौ—अष्ट आ + आम्
षड्चतुर्भ्यश्यश्च—अष्ट आ + नुट् + आम्
अष्ट आ न् आम् = अष्टानाम्

इन उदाहरणों में 'षष्' शब्द मूल रूप में षकारान्त था तथा 'अष्टन्' शब्द नकारान्त । अतः प्रस्तुत सूत्र द्वारा इनकी षट् संज्ञा होकर विभक्ति लोग तथा नुमागम हो गये । शत तथा सहस्र शब्द मूल रूप में अकारान्त थे । 'नुम्' आने के वाद नकारान्त बने हैं । अतः इनकी षट्संज्ञा नहीं हुई ।

विशेष—वार्तिककार तथा भाष्यकार अन्त ग्रहण को औपदेकार्थ नहीं मानते । उन्होंने 'सन्निपात लक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य' परिभाषा से उक्त प्रयोजन की पूर्ति की है ।

डति च ।।२५।।

डत्यन्ता या संख्या सा षट्संज्ञा भवति । कति तिष्ठन्ति । कति पश्य ।

वृत्त्यर्थ—जिसके अन्त में डति प्रत्यय है, ऐसे संख्यावाची शब्दों की षट् संज्ञा होती है । यथा—कति तिष्ठति । कति पश्य । यहाँ पर 'कति' शब्द डति प्रत्ययान्त है । (सिद्धि देखें सू० २३) षट् संज्ञा होने से उक्त उदाहरणों में 'कति' के आगे 'आगे 'जश्' तथा शस्' विभक्तियों का 'षड्भ्यो लुक्' से लुक् हो गया ।

क्तक्तवतू निष्ठा ।।२६।।

क्तश्च क्तवतुश्च क्तक्तवतू प्रत्ययौ निष्ठासंज्ञौ भवतः । कृतः । कृतवान् । भुक्तः । भुक्तवान् । ककारः कित्कार्यार्थः । उकार उगित्कार्यार्थः निष्ठाप्रदेशाः —श्वीदितो निष्ठायाम् (अ० सू० ७।२।१४) इत्येवमादयः ।

वृत्त्यर्थ—क्त तथा क्तवतु प्रत्यय निष्ठा संज्ञक होते हैं। जैसे—कृतः। कृतवान्। भुक्तः। भुक्तवान्। 'क्त' तथा 'क्तवतु' में ककार कित् कार्य के लिए तथा 'क्तवतु' में उकार उगित कार्य के लिए लगाया गया है। निष्ठा के कार्य स्थल हैं—'श्वीदितो निष्ठायाम्' इत्यादि।

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥२७॥

सर्वशब्द आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। सर्वः, सर्वौ, सर्वे, सर्वस्मै, सर्वस्मात्, सर्वेषाम्, सर्वस्मिन्, सर्वकः, विश्वः, विश्वौ, विश्वे, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वेषाम्, विश्वस्मिन्, विश्वकः उभ, उभय। उभशब्दस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनं 'सर्वनाम्नस्तृतीया च" (अ० सू० २।३।२७) इति। उभये, उभयस्मै, उभयस्मात्, उभयेषाम्, उभयस्मिन्। डतर। डतम। कतर, कतम, कतरस्मै, कतमस्मै। इतर, अन्य, अन्यतर। इतरस्मै अन्यस्मै अन्यतरस्मै। त्वशब्दोऽन्यवाची, स्वरभेदाद् द्विःपठितः। एक उदात्तो द्वितीयोऽनुदात्तः। केचित् तकारान्तमेकं पठन्ति। त्वत्वदिति द्वावपि चानुदात्ताविति स्मरन्ति। नेम, नेमस्मै। वक्ष्यमाणेन जसि विभाषा भवति। नेमे, नेमाः, इति। सम समस्मै। कथं "यथा संख्यमनुदेशः समानाम्" (अ० सू० १।३।१०) "समे देशे यजेत" इति। समस्य सर्वशब्दपर्यायस्य सर्वनामसंज्ञेष्यते न सर्वत्रासिम, सिमस्मै। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायां। स्वमज्ञातिधनाख्यायायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोः। त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदं। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्। सर्वादिः॥ सर्वनामप्रदेशाः—"सर्वनाम्नः स्मैः (अ० सू० ७।१।१४) इत्येवमादयः॥

वृत्त्यर्थः—जिन शब्दों के आदि में सर्व शब्द है उनको सर्वादि कहते हैं। सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है। यथा—सर्वः, सर्वौ आदि। उभ, उभय शब्दों की भी सर्वनाम संज्ञा होती है। 'उभ' शब्द की सर्वनाम संज्ञा करने का प्रयोजन है—'सर्वनाम्नस्तृतीया च' सूत्र से हेतु अर्थ में तृतीया तथा षष्ठी विभक्तियों का प्रयोग। यथा—उभाभ्यां हेतुभ्याम्। उभयोः हेत्वोः। उभ शब्द नित्य द्विवचनान्त है अतः इससे एकवचन तथा बहुवचन में 'शी', 'स्मै' 'स्मात्' तथा 'स्मिन्' आदेश नहीं होते। उभय शब्द नित्य एक वचनान्त तथा बहुवचनान्त है यदि समुदायवाची माने तो नित्य एकवचनान्त तथा यदि समुदायी वाचक माने तो नित्य बहुवचनान्त है। डतर तथा डतम दोनी प्रत्यय हैं। अतः इन प्रत्ययों के अन्त वाले शब्दों—कतर, कतम की सर्वनाम संज्ञा होती है। त्व शब्द अन्य का वाचक है। स्वर भेद के कारण

इसका दो बार पाठ हुआ है, क्योंकि एक उदात है, दूसरा अनुदात्त है। कुछ प्राचीन आचार्य त्व तथा त्वत्, इस प्रकार अकारान्त तथा तकारान्त दो शब्द मानते हैं, तथा दोनों को ही अनुदात्त कहते हैं। सम शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा है। अतः सर्वनाम संज्ञा होकर सप्तमी में 'समस्मिन्' तथा षष्ठी में 'समेषाम्' रूप बनते हैं। किन्तु 'समे देशे यजेत' (समतल स्थान पर यज्ञ करे), 'यथासंख्यमनुदेश समानाम्' यहाँ पर 'समे' तथा 'समानाम्' रूप बन रहे हैं। इसका उत्तर यह है कि सर्व शब्द का पर्याय होने पर ही 'सम' की सर्वनामता इष्ट हैं, अन्यत्र नहीं। उक्त उदाहरणों में 'सम' शब्द सर्व का वाचक नहीं हैं अतः सर्वनाम संज्ञा न होने से समे तथा समानाम् रूप बने हैं। पूर्व, पर, अवर, दक्षिण उत्तर, अपर, अधर शब्द व्यवस्था तथा असंज्ञा में विकल्प से सर्वनामसंज्ञक होने है। स्व शब्द की जाति तथा धन अर्थ से अन्यत्र सर्वनाम संज्ञा होती है। अन्तर शब्द की बहिर्योग तथा उपसंव्यान (परिधान) अर्थ में सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वनाम संज्ञा का प्रदेश 'सर्वनाम्नः स्मै' आदि सूत्र है इन शब्दों में पठित नेम का अर्थ आधा है तथा सिम का अर्थ है—सम्पूर्ण

सर्वनाम संज्ञा होकर सर्वे, उभये आदि उदाहरणों में 'जश्शसोः शि' से 'जश् के स्थान पर शि होता है। सर्वस्मै, उभयस्मै, कतरस्मै आदि उदाहरणों में 'सर्वनाम्नः स्मै' सूत्र से 'ङे' के स्थान पर स्मै आदेश हो रहा है तथा सर्वस्मात् विश्वस्मात् सर्वस्मिन्, विश्वस्मिन् आदि प्रयोगों में 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' सूत्र से स्मात् तथा स्मिन् आदेश होते हैं। यहां पर सर्वनाम संज्ञा होने का फल है कि सर्वकः आदि योगों में 'अव्यय सर्वनाम्न अकच् प्राक् टेः' सूत्र से अकच् प्रत्यय हो जाता है।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ।।८।।

"न बहुव्रीहौ" (अ० सू० १।१।२९) इति प्रतिषेधं वक्ष्यति तस्मिन्नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विभाषेयमारभ्यते। दिशां समासो दिक्समासो द्विगुपदिष्टे समासे बहुव्रीहौ विभाषा सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। उत्तरपूर्वस्यै दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै। दिग्ग्रहणं किम्, "न बहुव्रीहौ" (अ० सू० १।१।२८) इति प्रतिषेधं वक्ष्यति तत्र न ज्ञायते क्व विभाषा क्व प्रतिषेध इति। दिग्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे ज्ञायते दिगुपदिष्टसमासे विभाषाऽन्यत्र प्रतिषेध इति। समासग्रहणं किम्, समास एव यो बहुव्रीहिस्तत्र दिभाषा यथा स्यात्। बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूत् दक्षिणदक्षिणस्यै देहि। बहुव्रीहा-विहि किम् द्वन्द्वे विभाषा मा भूत्, दक्षिणोत्तरपूर्वाणामिति। "द्वन्द्वे च" (अ० सू० ।१।३१) इति नित्यं प्रतिषेधो भवति ।।

वृत्त्यर्थ—इससे अगले सूत्र 'न बहुव्रीहौ' से सर्वनाम संज्ञा का निषेध किया जायेगा। वह नित्य प्रतिषेध हैं। उसके वारणार्थ यह विभाषा प्रारम्भ की

जाती है । दिशा वाचक शब्दों का समास दिक्समास कहलाता है । दिग्वाची शब्द से उपदिष्ट बहुव्रीहि समास में सर्वादि शब्द विकल्प से सर्वनाम संज्ञक होते हैं । जैसे उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । दक्षिणपूर्वस्यै । दिक् का ग्रहण इसलिए किया है कि अगले ही सूत्र 'न बहुव्रीहौ' द्वारा सर्वनाम संज्ञा का प्रतिषेध कहा जायेगा । यदि सूत्र २८ में दिक् ग्रहण न करते तो यह पता न चल पाता कि कहां पर नित्य निषेध होता है तथा कहां पर विकल्प होता है । इस सूत्र में दिक् के ग्रहण से स्पष्ट हो जाता है कि दिशा वाची शब्द से उपदिष्ट समास में विकल्प होता है, इससे अन्यत्र प्रतिषेध होता है । समास का ग्रहण इसलिए किया है कि समास में बहुव्रीहिवद्भाव से जो बहुव्रीहि समास है वहाँ पर विकल्प नहीं होगा । सूत्र में बहुव्रीहि पद का ग्रहण इस लिए किया है कि द्वन्द्व समास में विकल्प न हो । जैसे—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । यहां पर तो 'द्वन्द्वे च' सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का नित्य प्रतिषेध ही होता है ।

व्याख्या—इससे अगले सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास में सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध किया गया है । इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि यदि वह बहुव्रीहि समास दिशा वाची शब्दों का प्रयोग होगा तो सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होगी । यथा—

उत्तरपूर्वस्यै—उत्तरपूर्वा + ङे
सर्वनाम्नः स्याट्०—उत्तरपूर्व + स्याट् + ए
उत्तरपूर्व + स्या + ए
वृद्धिरेचि—उत्तरपूर्वस्यै

उत्तरपूर्वायै—उत्तरपूर्वा + ङे
याडापः—उत्तरपूर्वा + याट् + ए
उत्तरपूर्वा + या + ए
वृद्धिरेचि—उत्तरपूर्वायै

यहां पर सर्वनाम संज्ञा होकर 'स्याट्' आगम होता है । जहाँ सर्वनाम संज्ञा नहीं होती वहां 'याट्' आगम होता है ।

सूत्र में समास ग्रहण इसलिए किया गया है कि दिगुपदिष्ट बहुव्रीहि समास में ही यह विभाषा होगी । बहुव्रीहिवद् भाव से प्राप्त बहुव्रीहि में नहीं । जहां बहुव्रीहि समास न होने पर भी बहुव्रीहि मान लिया जाए, उसे बहुव्रीहिवत्भाव कहते हैं । यथा—'दक्षिणदक्षिणस्यै देहि' यहां पर 'आबाधे' ८।१।१० सूत्र से बहुव्रीहिवद्भाव किया गया है । अतः यहां पर यह विभाषा प्रवृत्त नहीं हुई । 'न बहुव्रीहौ' से भी यहाँ निषेध प्राप्त नहीं है क्योंकि यह दिगुपदिष्ट समास है । अतः यहाँ दक्षिण शब्द की नित्य सर्वनाम संज्ञा होने से 'दक्षिण दक्षिणस्यै देहि' रूप ही बनेगा ।

न बहुव्रीहौ ॥२९॥

सर्वनामसंज्ञायां तदन्तविधेरभ्युपगमाद् बहुव्रीहेरपि सर्वाद्यन्तस्य संज्ञा स्यादिति प्रतिषेध आरभ्यते । बहुव्रीहौ समासे सर्वादीनि सर्वनाम संज्ञानि न भवन्ति । प्रियविश्वाय । प्रियोभयाय । द्व्यन्याय । त्र्यन्याय । इह च त्वत्क-

पितृको मत्कपितृक इत्यकज्न भवति। बहुव्रीहावििति वर्तमाने पुनर्बहुव्रीहि-ग्रहणं भूतपूर्वमात्रेऽपि प्रतिषेधो यथा स्यात्। वस्त्रान्तरवसनान्तरा इति।

वृत्त्यर्थ—सर्वनाम संज्ञा में तदन्त विधि को स्वीकार करने के कारण सर्वाद्यन्त बहुव्रीहि समास की भी सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होगी अतः यह प्रतिषेध प्रारम्भ किया जाता है कि बहुव्रीहि समास में सर्वादि शब्दों की सर्वताम संज्ञा नहीं होगी। यथा—प्रियविश्वाय। प्रियोभयाय। द्व्यन्याय। त्र्यन्याय। 'त्वत्कः पितृकः, मत्कः पितृकः' यहाँ पर सर्वनाम संज्ञा न होने से 'अकच्' प्रत्यय नहीं होता है। इससे पूर्व सूत्र से बहुव्रीहि की अनुवृत्ति आ रही थी इस सूत्र में पुनः से बहुव्रीहि ग्रहण का प्रयोजन यह है कि भूतपूर्वबहुव्रीहि समास में भी प्रतिषेध हो जाए। यथा—वस्त्रान्तरा।

व्याख्या—येन विधिस्तदन्तस्य सूत्र के अनुसार जिस विशेषण से कोई कार्य किया हो जाता है, उस विशेषण के अन्त वाले समुदाय को भी वह कार्य हो जाता है। सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा की जा चुकी है तदन्तविधि के द्वारा सर्वाद्यन्त शब्दों की भी सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होगी। इस नियमानुसार यदि कहीं पर सर्वाद्यन्त बहुव्रीहि (ऐसा बहुव्रीहि जिसके अन्त में सर्वादि शब्द है) तो उस बहुव्रीहि की भी सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होने लगेगी। यथा—प्रियं विश्वं यस्य स प्रियविश्वः। यह सर्वाद्यन्त बहुव्रीहि है। यहाँ पर सर्वनाम संज्ञा न हो जाए, इस लिए यह सूत्र कहा है। सर्वनाम संज्ञा के अभाव में यहाँ विभक्तियों के रूप सामान्य नियमानुसार ही चलते हैं। इसी प्रकार प्रिय उभयो यस्य स प्रियोभय, तस्मै प्रियोभयाय, द्वौ अन्यौ यस्य स द्व्यन्य, तस्मै द्व्यन्यायः, त्रयोऽन्येयस्य स त्र्यन्य, तस्मै त्र्यन्याय, में भी सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

त्वत्क पितृकः त्वं पिता यस्य	**मत्क पितृकः**—अहं पिता यस्य
युष्मद्+क	अस्मद्+क
प्रत्ययोत्तर पदयोश्च त्वद्+क	मद+क
खरि च त्वत् क	मत्+क
त्वत्क+पितृ	मत्क+पितृ
नद्यृतश्च–त्वत्क पितृ+कप्+सु	मत्क पितृ+कप्+सु
=त्वत्क पितृकः	=मत्क पितृकः

यहां पर सर्वनाम संज्ञा न होने से 'अव्ययसर्वनाम्न अकच् प्राक् टेः' से 'अकच्' प्रत्यय नहीं होता अपितु 'क' होता है। यदि यहाँ सर्वनाम संज्ञा हो जाती तो 'टि' भाग से पूर्व 'अकच् आने से त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः रूप बनते।

वस्त्रान्तरवसनान्तरा यह पहले बहुव्रीहि था। अब नहीं रहा। वस्त्र-मन्तरं यस्यां सा वस्त्रान्तरा, वसनमन्तरं यस्याम् सा वसनान्तरा ये दोनों बहुव्रीहि समास थे। किन्तु अब दोनों को [illegible] बनाया है—

वस्त्रान्तरा च, वसनान्तरा च वस्त्रान्तरवसनान्तरे। भूतपूर्व बहुव्रीहि समास में भी सर्वनाम संज्ञा का प्रतिषेध हो गया।

तृतीयासमासे ॥३०॥

तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। मासपूर्वाय संवत्सरपूर्वाय, द्व्यहपूर्वाय, त्र्यहपूर्वाय। समास इति वर्त्तमाने पुनः समासग्रहणं तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि प्रतिषेधो यथा स्यात्। मासेन पूर्वाय। "पूर्वसदृशसमोनार्थ अ० सू० २।१।३१ इति तृतीयासमासं प्रतिपदं वक्ष्यति तस्येदं ग्रहणं न यस्य कस्य चित्तृतीयासमासस्य 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (अ० सू० (अ० सू० २।३।३२) इति। त्वयका कृतम्, मयका कृतम्।

वृत्त्यर्थ—तृतीयासमास में सर्वादि शब्द सर्वनाम संज्ञक नहीं होते। यथा—(मासेनपूर्वाय) मासपूर्वाय। (संवत्सरेण पूर्वाय) संवत्सरपूर्वाय। इसी प्रकार द्व्यहपूर्वाय। त्र्यहपूर्वाय। सू० २८ से समास की अनुवृत्ति आ रही थी। पुनरपि यहाँ पर समास का ग्रहण इसलिए किया है कि तृतीया समास करने के लिए जो वाक्य है, वहां पर भी प्रतिषेध हो जाए। यथा—मासेन पूर्वाय। आगे 'पूर्वसदृशसमोनार्थ०' यह तृतीयासमास कहा जायेगा यहाँ पर उसी समास का ग्रहण है। अन्य किसी 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' आदि से प्राप्त समास का नहीं। अतः यहाँ पर सर्वनाम संज्ञा का निषेध न होने से त्वयका कृतम्, मयका कृतम् रूप ही बनते हैं।

व्याख्या—'पूर्व सदृश समोनार्थ०' सूत्र से प्राप्त पूर्व, सदृश, सम, आदि शब्दों के साथ होने वाले तृतीया समास में ही इस सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का प्रतिषेध होता है। अन्यत्र नहीं। कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' से कृदन्त के साथ तृतीयान्त शब्दों (कर्त्ता-करण) का समास होता है। वहाँ उस सूत्र से प्रतिषेध नहीं होता। यथा—त्वयका कृतम्।

त्वयका— युष्मद्+टा
त्वमावेकवचने त्वद्+टा (आ)
योऽचि त्वय्+आ=त्वया
अव्यय सर्वनाम्नः० त्वय्+आ=अक्+त्वयका

द्वन्द्वे च ॥३१॥

वृत्ति—द्वन्द्वे च समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि च भवन्ति। पूर्वापराणाम्। कतरकतमानाम्।

वृत्त्यर्थ—द्वन्द्व समास में भी सर्वादि शब्दों की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती। पूर्वे च अपरे च इति पूर्वेपराः, कतरे च कतमे च इति कतरकतमाः, यहाँ पर 'चार्थे द्वन्द्व' से द्वन्द्व समास हुआ है। सर्वनाम संज्ञा न होने से यहाँ पर (आमि सर्वनाम्नः सुट्) से सुट् नहीं हुआ।

विभाषा जसि ।।३२।।

पूर्वेण नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते जसि विभाषाऽऽरभ्यते। द्वन्द्वे समासे जसि विभाषा सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। कतरकतमे, कतरकतमाः। जसः कार्यं प्रति विभाषाऽकज् हि न भवति, कतरकतमकाः।

वृत्त्यर्थ—पूर्वसूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त होने पर 'जस्' परे होने पर, विकल्प का प्रारम्भ किया जाता है। द्वन्द्व समास में 'जस्' परे रहने पर सर्वादि शब्द विकल्प से सर्वनाक संज्ञक होते हैं। यथा—कतरकतमे। कतर-कतमाः। जस् कार्य के प्रति विकल्प से अकच् नहीं होता।

व्याख्या—सर्वनाम संज्ञा होकर 'जशः शी' से शी आदेश होकर कतर-कतमे रूप बनता है। अन्यत्र कतरकतमाः बनता है। यहाँ सर्वनाम संज्ञा में 'अव्यय सर्वनाम्नः०' से अकज् प्रत्यय होता है। यहाँ सर्वनाम संज्ञा तो विकल्प से होती है किन्तु अकच् का नित्य ही प्रतिषेध होता है। अतः कतर कतमकाः में अकच् न होकर 'कन्' प्रत्यय होता है।

प्रथम चरमतयाल्पार्द्धकतिपयनेमाश्च ।।३३।।

विभाषाजसीति वर्त्तते। द्वन्द्व इति निवृत्तम्। प्रथम, चरम, तय अल्प, अर्द्ध, कतिपय, नेम, इत्येते जसि विभाषा सर्वनाम संज्ञा भवन्ति। प्रथमे, प्रथमाः। चरमे, चरमाः। द्वितये, द्वितयाः। अल्पे, अल्पा। अर्धे, अर्धाः। कतिपये, कतिपयाः। नेमे, नेमाः। तय इति तयप्प्रत्ययः। शिष्टानि प्रातिपदिकानि। तत्र नेम इति सर्वादिषु पठचते तस्य प्राप्ते विभाषा, अन्येषामप्राप्ते। उभयशब्दस्य तयप्रययान्तस्य गणे पाठान्नित्या सर्वनामसंज्ञा इहापि जस्कार्यं प्रति विभाषा। काकचोर्यथायोगं वृत्तिः।

वृत्त्यर्थ—'विभाषा जसि' की अनुवृत्ति आ रही है। 'द्वन्द्वे' की निवृत्ति हो गयी। प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय, नेम शब्दों की जस् परे रहने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। यथा—प्रथमे, प्रथमाः चरमे, आदि। 'तय' से यहाँ पर 'तयप्' प्रत्यय का ग्रहण होता है। शेष शब्द प्राति-पदिक हैं इनमें से 'नेम' यह शब्द सर्वादि गण में पढा हुआ है। नेम की नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होने पर तथा शेष शब्दों की अप्राप्त होने पर यह सूत्र विकल्प करता है। तयप् प्रत्ययान्त उभय शब्द का सर्वादि गण में पाठ होने से नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त है, यहाँ पर वह जस् कार्य के प्रति विकल्प से होती है। 'कन्' तथा 'अकच्' प्रत्यय की यथायोग वृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—प्रथम आदि शब्दों की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होने के कारण एक पक्ष में 'जस्' को 'शि' होकर प्रथमे चरमे आदि रूप बनते हैं तथा दूसरे पक्षमें प्रथमा चरमाः आदि। तय से यहाँ तयप् प्रत्यायन्त शब्दों का ग्रहण

होता है। यथा द्वितय। नेम तथा तयप् प्रत्ययान्त उभय शब्द की इस सूत्र से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है किन्तु यह विकल्प केवल जस् कार्य के लिए ही है। अर्थात् 'जसः शी' से विकल्प से जस् को 'शी' होता है। 'अकच्' के प्रति यह विभाषा नहीं है। ये दोनों शब्द सर्वादिगण में भी पठित हैं। अतः इनकी नित्य सर्वनाम संज्ञा होकर 'अव्यय सर्वनाम्नः० से अकच् तो नित्य ही होता है। सूत्र में पठित शेष प्रथम आदि शब्दों से कन् होता है। यही यथायोगवृत्ति अर्थात् व्यवस्था है॥

पूर्वपराबरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥३४॥

पूर्व पर अवर दक्षिण उत्तर अपर अधर इत्येतेषां गणे पाठात्पूर्वेण नित्यायां सर्वनामसंज्ञायां प्राप्तायां जसि विभाषाऽऽरभ्यते। पूर्वादीनि विभाषा जसि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। स्वाभिधेयापेक्षावधिर्नियमो व्यवस्था। पूर्वे, पूर्वाः। परे, पराः। अवरे, अवराः। व्यवस्थायामिति किम्? दक्षिणा इमे गाथकाः, प्रवीणा इत्यर्थः। असंज्ञायामिति किम्? उत्तराः कुरवः। सत्यामेव व्यवस्थायामियं तेषां संज्ञा।

वृत्यर्थ—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इनका सर्वादि गण में पाठ होने के कारण नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होने से इस सूत्र से 'जस्' के परे रहने पर विकल्प आरम्भ किया जाता है। पूर्व आदि शब्द 'जस्' परे रहने पर व्यवस्था तथा असंज्ञा में विकल्प से सर्वनाम संज्ञक होते हैं। अपने अभिधेय की अपेक्षा की अवधि के नियम को व्यवस्था कहते हैं। उदा० पूर्वे, पूर्वा आदि हैं। सूत्र में व्यवस्था पद इसलिए पढ़ा है कि 'दक्षिणा इमे गाथकाः' यहाँ पर दक्षिणा का अर्थ प्रवीण है। व्यवस्था अर्थ नहीं है। असंज्ञा इसलिए कहा है कि 'उत्तराः कुरवः' व्यवस्था होने पर भी यह उनकी संज्ञा है। अतः सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥३५॥

अत्रापि नित्या सर्वनामसंज्ञा प्राप्ता जसि विभाष्यते। स्वमित्येतच्छब्दरूपं जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञं भवति न चेज्ज्ञातिधनयोः संज्ञारूपेण वर्तते। स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः। स्वे गावः स्वा गावः। आत्मीया इत्यर्थः। ज्ञातिप्रतिषेधः किम्,

धूमायन्त इवाश्लिष्टाः प्रज्वलन्तीव संहताः।
उल्मुकानीव मेऽमी स्वा ज्ञातयो भरतर्षभ॥

अधनाख्यायामिति किम् प्रभूताः स्वा न दीयन्ते, प्रभूताः स्वा न भुज्यन्ते। प्रभूतानि धनानीत्यर्थः।

वृत्पर्थ—यहाँ भी नित्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी। वह जस् परे रहने पर विकल्प से की जाती है। स्वम् यह शब्द रूप जस् परे रहने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञक होता है यदि यह शब्द ज्ञाति तथा धन के अर्थ में संज्ञा के रूप में विद्यमान न हो। यथा—स्वे पुत्राः। स्वाः पुत्राः। स्वे गावः। स्वा गावः यहां पर स्व का अर्थ आत्मीय है। ज्ञाति का प्रतिषेध इसलिए किया है कि—'स्वा ज्ञातयः' मे स्व की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। श्लोकार्थ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ? ये मेरे ज्ञातयः = सम्बन्धी लोग जलते हुए काष्ठ के समान हैं। ये लोग अलग अलग रहने पर अकेली लकड़ी के समान ईर्ष्या रूपी धूम को उत्पन्न करते हैं तथा इकट्ठे होने पर काष्ठों की भांति जल उठते हैं—(लड़ने लगते हैं)। यहाँ पर 'स्व' का अर्थ ज्ञाति वाले हैं अतः सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई। अधनाख्यायाम् इसलिए कहा है कि 'प्रभूताः स्वा न दीयन्ते—प्रभूताः स्वा न भुज्यन्ते में 'स्वा' का अर्थ धन है अतः सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो गया। प्रभूताः स्वाः = प्रचुर धन।

व्याख्या—यदि 'स्व' शब्द का ज्ञाति तथा धन अर्थ न हो तो 'सम्' परे रहने पर इसकी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वनाम संज्ञा पक्ष में जस् को 'शी' आदेश होकर 'स्वे' रूप बनता है। 'स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः' में स्वा का अर्थ अपना है। ज्ञाति या धन अर्थ नहीं है। 'धूमायन्त इवाश्लिष्टा०' में स्वा का अर्थ ज्ञाति तथा 'प्रभूताः स्वा न दीयन्ते' में धन अर्थ है अतः सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

स्व अधिधेय—अपने कहने की अपेक्षा—आवश्यकतानुसार अवधि के नियम को व्यवस्था कहते हैं। भाव यह है कि यह कहने वाले के ऊपर निर्भर करता है कि किस प्रकार वह पूर्व तथा पर सीमा का निर्धारण करता है। इस प्रकार व्यवस्था करने में पूर्वादि शब्दों की जस् परे रहने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। 'पूर्वे पूर्वाः' आदि में इनकी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हो रही है। सर्वनाम संज्ञा पक्ष में 'जस्' को 'शी' आदेश होकर 'पूर्वे' आदि रूप वनते हैं तथा अभाव पक्ष में 'पूर्वाः' आदि रूप बनते हैं।

देश तथा काल की व्यवस्था करने में ही पूर्व आदि शब्दों की विकल्प सर्वनाम संज्ञा होती है। 'दक्षिणा इमे गाथकाः' में दक्षिण शब्द का प्रवीण अर्थ है, दिशा, देश आदि नहीं। अतः सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई। पूर्व आदि शब्द किसी की संज्ञा = नाम न हो, तभी इनकी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। संज्ञा होने पर नहीं। 'उत्तराः कुरवः' में यद्यपि व्यवस्था तो है किन्तु यह कुरु देश की अथवा वहां पर रहने वालों की संज्ञा है। अतः यहां सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥३६॥

अत्रापि पूर्वेण नित्या सर्वनामसंज्ञा प्राप्ता जसि विभाष्यते। अन्तरमित्येतच्छब्दरूपं विभाषा जसि सर्वनामसंज्ञं भवति बहिर्योग उपसंख्याने च गम्यमाने। अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः। नगरबाह्याश्चाण्डालादिगृहा उच्यन्ते। अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः। उपसंव्यानं परिधानीयमुच्यते, न प्रावरणीयम्। बहिर्योगोपसंख्यानयोरिति किम्? अनयोर्ग्रामयोरन्तरे तापसः प्रतिवसति, तस्मिन्नन्तरे शीतान्युदकानि। मध्यप्रदेशवचनोऽन्तरशब्दः। गणसूत्रस्य चेदं प्रत्युदाहरणम्। अपुरीति वक्तव्यम्। अन्तरायां पुरि वसति। विभाषा प्रकरणे तीयस्य वा ङित्सु सर्वनामसंज्ञेत्युपसंख्यानम्। द्वितीयाय, द्वितीयस्मै। तृतीयाय, तृतीयस्मै।

वृत्त्यर्थ—यहाँ भी पूर्व सूत्र से नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी। 'जस्' परे रहने पर उसका विकल्प किया जाता है। अन्तर शब्द की बहिर्योग तथा उपसंव्यान अर्थ में वर्त्तमान रहने पर, जस् परे होने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। यथा—'अन्तरे गृहाः'—ये नगर से बाहर चाण्डाल आदि के घर होते हैं। यहाँ पर 'बहिर्योग' अर्थ है। 'अन्तरे शाटकाः'—यहां उपसंव्यान अर्थ है। नीचे धारण करने के वस्त्र (परिधानीय) को उपसंख्यान कहते हैं। ऊपर ओढने के वस्त्र को नहीं। बहिर्योग तथा उपसंव्यान इसलिए कहा है कि इन दोनों ग्रामों के (अन्तरे) मध्य में तपस्वी निवास करता है, उसके मध्य में शीतल जल है। यहां पर 'अन्तर' शब्द 'मध्य' का वाचक है। यह प्रत्युदाहरण ग सूत्र का है।

वार्त्तिक—अपुरि यह कहना चाहिए। अर्थात् अन्तर शब्द जब पुरि का विशेषण न हो तब तक उनकी 'जस्' परे रहने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। यथा—अन्तरायां पुरि वसति।

वार्त्तिक—विभाषा प्रकरण में तीय प्रत्ययान्त शब्द की 'ङित्' प्रत्यय परे रहने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा कहनी चाहिए। यथा—द्वितीयाय। द्वितीयस्मै। तृतीयाय। तृतीयस्मै।

व्याख्या—सर्वनाम संज्ञा होने से 'जस्' को 'शी' होकर 'अन्तरे' रूप बनता है। अन्यत्र 'अन्तराः' रूप बना। यह सूत्र 'जस्' परे रहने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा करता है। किन्तु 'अनयोर्ग्रामयोरन्तरे०' यहाँ पर 'अन्तरे' शब्द सप्तम्यन्त है। यह 'जस्' का उदाहरण नहीं है।

इसका समाधान यह है कि यह प्रत्युदाहरण गणसूत्र का है। सूत्र का उदाहरण न देकर गण सूत्र का प्रत्युदाहरण इसलिए दिया है कि आगे 'अपुरीति वक्तव्यम्' यह वार्त्तिक कहा है वह भी गण सूत्र के विषय में जाना

जाए। इसी दिशा में सूत्र का प्रत्युदाहरण भी जान लिया जायेगा। अतः पृथक् से सूत्र का प्रत्युदाहरण नहीं दिया है।

यद्यपि सूत्र से 'अन्तर' शब्द की सर्वनाम संज्ञा का निषेध किया गया है किन्तु 'प्रातिपदिक ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा के अनुसार टाबन्त स्त्रीलिङ्ग 'अन्तरा' शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी। इस लिए 'अपुरीति वक्तव्यम्' वार्तिक कहा गया है कि 'पुरि' के योग में 'अन्तरा' की सर्वनाम संज्ञा न हो। सर्वनाम संज्ञा न होने से 'अन्तरायाम्' रूप बना है। द्वितीय तथा तृतीय शब्द तीय प्रत्ययान्त हैं। 'ङे' विभक्ति परे रहने पर इनकी विकल्प से सर्वनाम सज्ञा होती है सर्वनाम संज्ञा पक्ष में 'सर्वनाम्नः स्मै' आदेश होकर 'द्वितीयस्मै, तृतीयस्मै' रूप बनते हैं यथा सर्वनाम संज्ञा के अभाव पत्र में द्वितीयाय, तृतीयाय रूप बनते हैं।

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥३७॥

स्वरादीनि शब्दरूपाणि निपातश्चाव्ययसंज्ञानि भवन्ति। स्वर। अन्तर्। प्रातर्। एतेऽन्तोदाताः पठ्यन्ते। पुनर् आद्युदातः। सनुतर्। उच्चैस्। नीचैस्। शनैस्। ऋधक्। आरात्। ऋते। युगपत्। पृथक्। ऐतेऽपि सनुतर्-प्रभृतयोऽन्तोदात्ताः पठ्यन्ते। ह्यस्। श्वस्। दिवा रात्रौ। सायत्। चिरम्। मनाक्। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम् बहिस् आविस्। अवस्। अधस। समया। निकषा। स्वयम् मृषा। नक्तम्। नञ् हेतौ। अद्धा। इद्धा सामि एतेऽपि ह्यस्प्रभृतयोऽन्तोदात्ताः पठ्यन्ते। वत्। वदन्तमव्ययसंज्ञं भवति। ब्राह्मण-वत्। क्षत्रियवत्। सन्। सनात् सनत्। तिरस्। एते आद्युदात्ताः पठ्यन्ते। अन्तरा अयमन्तोदातः। अन्तरेण। ज्योक्। कम्। शम्। सना। सहसा। विना। नाना। स्वस्ति। स्वधा। अलम्। वषट्। अन्यत्। अस्ति। उपांशु। क्षमा। विहायसा। दोषा। मुधा। मिथ्या। क्त्वातोसुन्कसुनः, कृन्मकारान्तः, सन्ध्यक्षारान्तोऽव्ययीभावश्च। पुरा। मिथो। मिथस्। प्रवाहुकम्। आर्य-हलम्। अभीक्ष्णम्। साकम्। सार्द्धम्। समम्। नमस् हिरुक्। तसिला-दिस्तद्धित एवाचपर्यन्तः। शस्तसी। कृत्वसुच्। सुच्। आस्थालौ। च्व्यर्था-श्च। अम्। आम्। प्रतान्। प्रशान्। स्वरादिः। निपाता वक्ष्यन्ते। "प्राग-रीश्वरान्निपाता" (अ० सू० १।४।५६) इति। च। वा। ह। अह। एव। एवमित्यादयः। अव्ययप्रदेशा "अव्ययादाप्सुप" (अ० सू० २।४।८१) इत्येवमादयः।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

वृत्यर्थ--स्वरादि गण में पठित शब्दों तथा निपात संज्ञक शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है। स्वर्, अन्तर् ये दो अन्तोदात्त पठित हैं। 'पुनर्'

आद्युदात्त है। सनुतर्, उच्चैस्, नीचैस्, ऋधक्, आरात्, ऋते, युगपत्। ये सनुतर् आदि शब्द अन्तोदात्त पठित हैं। ह्यस्, श्वस् आदि २४ शब्द अन्तोदात्त हैं। वत् प्रत्ययान्त की भी अव्यय संज्ञा होती है—ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत् सन्, सनत्, तिरस्, ये आद्युदात्त हैं। अन्तरा शब्द अन्तोदान्त है। अन्तरेण आदि २० शब्द, क्त्वा-तोसुन्-कसुन् प्रत्ययान्त शब्द, मकारान्त कृदन्त शब्द, सन्ध्यक्षर=(ए, ऐ, ओ, औ) जिनके अन्त में हैं, ऐसा अव्ययी भाव समास, पुरा आदि ११ शब्द, तसिल से लेकर एधाच् तक तद्धित प्रत्यय, शस्तसी आदि १० शब्द, ये सब स्वरादि गण में पठित हैं। निपातों को आगे बतलाया जायेगा—'प्रागीश्वरान्निपाता' इस सूत्र द्वारा। च, वा, ह, अह, एव, इत्यादि निपात हैं। अव्यय संज्ञा के प्रदेश --'अव्ययादाप्सुपः' इत्यादि सूत्र हैं। अव्यय यह अन्वर्थ संज्ञा है अर्थात् अर्थ के अनुसार ही है—(नास्ति व्ययोयस्य तदव्ययम्)।

श्लोकार्थ—तीनों लिङ्गों, सातों विभक्तियों, तीनों वचनों में जिसका व्यय नहीं होता वह अव्यय कहलाता है। अर्थात् जिस शब्द का किसी भी लिङ्ग—वचन-विभक्ति में रूप परिवर्तन न हो, वह अव्यय कहलाता है। यह श्लोक गो० ब्रा० १।१।२६ का है।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ।।३८।।

तद्धितान्तः शब्दोऽसर्वविभक्तिरव्ययसंज्ञो भवति। यस्मान्न सर्वविभक्तेरुत्पत्तिः। सोऽसर्वविभक्तिः। ततः। यतः। तत्र। यत्र। तदा। यदा,। सर्वदा। सदा। तद्धित इति किम्? एकः, द्वौ, बहवः। असर्वविभक्तिरिति किम्? औपगवः, औपगवौ, औपगवाः।

वृत्त्यर्थ—असर्वविभक्ति तद्धितान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है। जिससे सभी विभक्मियों की उत्पत्ति न हो, उसे असर्वविभक्ति कहते हैं। जैसे ततः, यतः आदि शब्द। तद्धित इसलिए कहा है कि एकः, द्वौ, बहवः, इनकी अव्यय संज्ञा नहीं होती क्योंकि ये तद्धित प्रत्ययान्त नहीं हैं। असर्वविभक्ति इसलिए कहा है कि औपगवः, औपगवौ, औपगवाः, यहां अव्यय संज्ञा न हो जाए। ये तद्धित प्रत्ययान्त तो हैं किन्तु असर्वविभक्ति नहीं हैं।

ततः—तद्+ङसि
पञ्चभ्यास्तसिल् तद्+ङसि+तसिल्
सुपोधातु० तद्+तसिल्
प्राग्दिशो० से विभक्ति संज्ञा
त्यदादीनाम—त अ+तस्
अतोगुणे--ततस्- ततः
इसी प्रकार यद्+ङसि
+तसिल्=यतः

तत्र—तद्+ङि
सप्तम्यास्त्रल् तद्+त्रल्
सुपो धातु०—तद्+त्रल्
प्राग्दिशो० से विभक्ति संज्ञा
त्यदादीनाम—त अ+त्रल्
अतो गुणे—त+त्रल्=तत्र
इसी प्रकार यद्+ङि +त्रल्
=यत्र

ऐसे ही 'सर्वैकान्य किं यत्तदः काले दा' सूत्र से 'दा' प्रत्यय होकर तस्मिन् +दा =तदा, सर्वस्मिन्+दा =सर्वदा बनते हैं। 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्याम् दि' से सर्व के स्थान पर 'स' आदेश होकर 'सदा' रूप बनेगा। ये सभी शब्द तद्धित प्रत्ययान्त हैं। अतः इनकी अव्यय संज्ञा हो जाती है। अव्यय संज्ञा होकर 'अव्ययादाप्सुपः' से विभक्ति लोप हो जाता है।

कृन्मेजन्तः ॥३९॥

कृद्यो मकारान्त एजन्तश्च तदन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति। स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते, संपन्नङ्कारं, भुङ्क्ते, लवणङ्कारं भुङ्क्ते। एजन्तः। वक्षे रायः। ता वामेषे रथानाम्। क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक्च सूर्यं दृशे। वक्षे इति वचेः "तुमर्थे सेसेन्" (अ० सू० ३।४।९) इति सेप्रत्यये कुत्वे षत्वे च कृते रूपम्। एषे इति इणः से प्रत्यये गुणे षत्वे च कृते रूपम्। जीवसे इति जीवेरसे प्रत्यये रूपम्। दृशे इति दृशेः केन्प्रत्ययो निपात्यते। दृशेः विख्ये च" (अ० सू० ३।४।११) इति। अन्तग्रहणमौपदेशिकप्रतिपत्त्यर्थम्। इह मा भूत्। आधये, चिकीर्षवे, कुम्भकारेभ्यः इति।

वृत्त्यर्थ—मकारान्त तथा एजन्त कृत् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है। मकारान्तों के उदाहरण—स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते। सम्पन्नकारं भुङ्क्ते। एजन्त के उदाहरण—वक्षे रायः। ता वामेषे रथानाम्। क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे। 'वक्षे' यह रूप 'वच्' धातु से 'तुमर्थे से सेन०' सूत्र द्वारा 'से' प्रत्यय होने पर 'चोकुः' से कुत्व तथा 'आदेश प्रत्ययोः' से षत्व करने पर सिद्ध होता है। 'एषे' यह 'इण्' धातु से 'से' प्रत्यय करने पर गुण तथा षत्व करने पर बनता है। 'जीवसे' यह 'जीव्' धातु से 'असे' प्रत्यय करने पर बनता है। 'दृशे यहाँ पर 'दृशे विख्ये च' सूत्र द्वारा केन् प्रत्यय का निपातन किया है सूत्र में अन्त ग्रहण[1] इसलिए किया है कि जहाँ पर कृत् प्रत्यय अपने मूल रूप में मकारान्त या एजन्त हों, वहीं पर अव्यय संज्ञा होगी, अन्यत्र नहीं। यथा—आधये। चिकीर्षवे। कुम्भकारेभ्यः।

स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते—अस्वादुं स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते
स्वादुमि णमुल्—स्वादुम् +कृ+णमुल् (अम्)
अचोञ्णिति—स्वादुम्+कार्+अम्
मोऽनुस्वारः—स्वादुं+कार्+अम्
अनुस्वारस्य ययि०—स्वादुङ् कारम्

---

१. भाष्य में अन्त ग्रहण को औपदेशिकार्थ नहीं माना है। वह पर 'सन्निपात लक्षणो०' परिभाषा द्वारा इस प्रयोजन की सिद्धि की गयी है।

इसी प्रकार सम्पन्नङ्कारम्, लवणङ्कारम् रूप बनेंगे। इन सबकी अव्यय संज्ञा होकर 'अव्ययादाप्सुपः' से विभक्ति लोप हो जाता है।

आधये—आङ्+√धा	कुम्भकारेभ्यः—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः।
उपसर्गे घो किः—आ+धा+कि	कर्मण्यण्—कुम्भ+अम् कृ+अण्
आतो लोप० आ+ध्+इ	उपपदमतिङ् से समास
आधि	सुपो धातु० कुम्भ कृ+अ
आधि+ङे	अचोञ्णिति कुम्भ कार्+अ= कुम्भकार
घेर्ङिति—आधे+ए	कुम्भकार+भ्यस्
एचोऽयवायावः— आधय्+ए =आधये	बहुवचने झल्येत्—कुम्भकारे+भ्यस् =कुम्भकारेभ्यः
इसी प्रकार चिकीर्षु+ए= चिकीर्षवे	

इन तीनों उदाहरणों में क्रमशः कि, उ तथा अण् प्रत्यय उपदेशकाल में एजन्त नहीं थे। गुणादि कार्य होकर ही ये एजन्त बने हैं। अतः प्रस्तुत सूत्रानुसार यहाँ पर अव्ययसंज्ञा नहीं होती।

क्त्वातोसुन्कसुनः ॥४०॥

क्त्वा तोसुन् कसुन् इत्येवमन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति। कृत्वा, हृत्वा। तोसुन्। पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः, पुरा वत्सानामपाकर्तोः। "भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदि" (अ० सू० ३।४।१७) इति इणः कृञश्च तोसुन्प्रत्यय। कसुन् "सृपितृदोः कसुन्" (अ० सू० ३।४।१७)। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्, पुरा जर्तृभ्य आतृदः।

वृत्त्यर्थ—क्त्वा, तोसुन् तथा कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है। यथा—क्त्वा प्रत्ययान्त—कृत्वा, हृत्वा। तोसुन् प्रत्ययान्त—पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः पुरा वत्सानामपाकर्तोः। यहाँ पर 'भाव लक्षणे०' सूत्र द्वारा स्था+इण् से तोसुन् प्रत्यय होता है। कसुन् प्रत्यय का उदाहरण 'सृपि तृदोः कसुन्' सूत्र द्वारा पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् तथा पुरा जर्तृभ्य आतृदः में —सृप् तथा +तृद् से 'क्सुन्' प्रत्यय होता है।

उदेतोः—उत्—+इङ्	अपाकर्तोः
भावलक्षणे० उत्+इ+तोसुन्	अप+कृ+तोसुन्
सार्वधातुका० उत्+ए+तोस्	अप+कर्+तोस्
खरि च उद्+ए+तोस्	अपकर्तोस्—अपकर्तोः
उदेतोस् =उदेतोः	

अव्ययीभावश्च ॥४१॥

अव्ययीभावसमासोऽव्ययसंज्ञो भवति। किं प्रयोजनम्। लुङ्मुखस्वरो-

पचाराः । लुक् । उपाग्नि, प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । मुखस्वर, उपाग्निमुखः, प्रत्यग्निमुखः । "नाव्ययदिक्छब्द" (अ० सू० ६।२।१६८) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं प्राप्तं, "नाव्ययदिक्छब्द" (अ० सू० ६।२।१६८) इति प्रतिषिध्यते। तस्मिन् प्रतिषिद्धे पूर्वपदप्रकृतिस्वर एव भवति । उपचार, उपपयःकारः, उपपयः कामः । विसर्जनीयस्थानिकस्य सकारस्य उपचार इति संज्ञा । तत्राऽव्ययीभावस्याव्ययत्वे "अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य" (अ० सू० ८।३।४६) इति पर्युदासः सिद्धो भवति । सर्वमिदं काण्डं स्वरादावपि पठ्यते । पुनर्वचनमनित्यत्वज्ञापनार्थम् । तेनायं कार्यनियमः सिद्धो भवति । इह च पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः, पुरा क्रूरस्य विसृप इति "न लोकाव्ययनिष्ठा" (अ० सू० २।३।६९) इति षष्ठीप्रतिषेधो न भवति ।

वृत्त्यर्थ—अव्ययी भाव समास की भी अव्यय संज्ञा होती है। इसके प्रयोजन हैं—लुक्, मुखस्वर तथा उपचार। लुक् के उदाहरण—उपाग्नि प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति (कीडे अग्नि के समीप गिर रहे हैं)। मुखस्वर के उदा०—उपाग्निमुखः । प्रत्यग्निमुख शलभाः पतन्ति । यहां पर 'मुखं स्वाङ्गम्' सूत्र से उत्तरपद को अन्तोदात्त प्राप्त है किन्तु नाव्ययदिक्छब्द०' से उसका प्रतिषेध हो गया । इसका प्रतिषेध होने पर पूर्वपदप्रकृतिस्वर ही यहाँ होता है । उपचार के उदाहरण—उपपयः कारः, उपपयः कामः । विसर्गों के स्थान पर होने वाले सकार की उपचार संज्ञा है । अव्ययी भाव समास की अव्यय संज्ञा होने पर 'अतः कृ कमि कंस०' से पर्युदास प्रतिषेध सिद्ध हो जाता होता है तथा यहाँ 'पुरा सूर्यस्योदेतो राधेयः' 'पुरा क्रूरस्य विसृपः' में 'न लोकाव्ययनिष्ठा०' से षष्ठी का प्रतिषेध नहीं होता है ।

व्याख्या—उपाग्नि, प्रत्यग्नि = अग्नेः समीपम्

अग्नि + ङस् + उप

अव्ययं विभक्ति० से समास

प्रथमा निर्दिष्टं० से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा

उपसर्जनं पूर्वम्	उप + अग्नि + ङस्
सुपो धातु०	उप + अग्नि = उपाग्नि
	उपाग्नि + सु
अव्ययादाप्सुपः	उपाग्नि

इसी प्रकार अग्नि + ङस् + प्रति = प्रत्यग्नि

यहाँ पर अव्ययी भाव समास की इस सूत्र से अव्यय संज्ञा होकर 'सु' का लोप हो गया ।

मुखस्वर = पूर्वपद को प्रकृतिस्वर

उपाग्नि मुखः=उपाग्निनुखं यस्य सः । यह अव्ययीभावगर्भित बहुव्रीहि समास है । अतः 'मुखंस्वाङ्गम्' से अन्तोदात्तत्व प्राप्त है । 'उपाग्नि' अव्ययी भाव समास है । अतः इसकी अव्यय संज्ञा होकर 'उपाग्निमुखः' में नाव्यय-दिक्शब्द०' से पूर्वपद प्रकृतिस्वर का निषेध हो जाता है । यह पर्युदास प्रति-षेध है । अब 'वहुव्रीहौ प्रकृत्या०' से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर=अन्तोदात्त ही जाता है ।

उपचार—उपपयः कामो यस्य सः—उपपयः कामः । यह भी अव्ययी-भाव गर्भित बहुव्रीहि है । पयसः समीसम्—'उपपयः' यह अव्ययी भाव समास है । अतः इसकी अव्यय संज्ञा होने से विसर्गों को सकार का निषेध हो जाता है । 'अतः 'कृ कमि०' सूत्र अव्यय को छोड़ कर ही विसर्गों को सकार करता है । तद्धितश्चासर्वविभक्ति' से लेकर 'अव्ययीभावश्च' तक का सम्पूर्ण प्रकरण स्वरादि गण में भी पठित हे अतः 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से ही इनकी भी अव्यय संया हो जाती । यहां पर पुनः इन सूत्रों को पढ़ने का प्रयोजन यह है कि इनकी अव्यय संज्ञा नित्य नहीं है । अर्थात् कभी नहीं भी होती है । जिसका लाभ यह है कि उपाग्निकम्' यहां पर यद्यपि अव्ययी-भाव समास है किन्तु अव्यय संज्ञा न होने से 'अव्ययसर्वनाम्नोऽकच् प्राक् टेः' से प्राप्त 'अकच्' प्रत्यय नहीं होता अपितु 'कन्' होता है 'न लोकाव्यय०' सूत्र अव्यय के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध करता हैं । अतः 'पुरा क्रूरस्य विसृपः, पुरा सूर्यस्य उदेतोः' यहाँ भी इस सूत्र से षष्ठी का प्रतिषेध होना चाहिए । किन्तु क्त्वा, तोसुन्, कसुन् प्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा अनित्य होने के कारण उक्त उदाहरणों में अव्यय संज्ञा न होकर षष्ठी का प्रतिषेध नहीं होता ।

शि सर्वनामस्थानम् ।.४२।।

शि इत्येतत्सर्वनामस्थानसंज्ञं भवति । किमिदं शि इति ? जश्शसोः शिरादेशः । कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य, दधीनि, मधूनि, त्रपूणि, जतूनि । सर्वनामप्रदेशाः 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (अ० सू० ६।४:८) इत्येवा-मादयः ।

वृत्त्यर्थ—'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है । यह 'शि' क्या हैं ? यह जश् तथा शस् प्रत्ययों के स्थान पर होने वाला आदेश है । कुण्डानि तिष्ठन्ति । कुण्डानि पश्य । दधीनि । मधूनि त्रपूणि । जतूनि । यहां सर्वत्र 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा हो रही है । सर्वनामस्थान संज्ञा के विधान करने वाले सूत्र 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' आदि हैं ।

सुडनपुंसकस्य ॥४३॥

सुडिति पञ्च वचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि भवन्ति नपुंसकादन्यत्र। नपुंसके न विधिर्न प्रतिषेधस्तेन जसंशे सर्वनामस्थानसंज्ञा पूर्वेण भवत्येव। राजा, राजानौ, राजानः राजानम्, राजानौ सुडिति किम्, राज्ञः पश्य। अनपुंसकस्येति किम्, सामनी, वेमनी।

वृत्यर्थ—सुट् अर्थात् सु, औ, जस्, अम्, औट्—ये पांच सर्वनाम संज्ञक होते हैं, नपुंसकलिङ्ग में न तो विधान है, न प्रजिषेध। अतः 'जस्' तथा 'शस्' के स्थान पर होने वाले 'शि' की पूर्वसूत्र से 'सर्वनामस्थान' संज्ञा पूर्वसूत्र से हो जाती है। राजा। राजानौ राजानः। राजानम्। राजानौ। 'सुट्' यह क्यों कहा? राज्ञः पश्य, यहाँ पर सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं होती। 'अनपुंसकस्य' इसलिए कहा है कि सामनी वेमनी में यह संज्ञा नहीं होगी।

व्याख्या—राजा आदि पांच शब्दों में सर्वनामस्थान संज्ञा होकर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से दीर्घ हो रहा है। 'राज्ञः' में यह संज्ञा न होने से दीर्घ नहीं हुआ। यह 'शस्' का रूप है। सामनी, वेमनी दोनों नपुसंक लिङ्ग के रूप है। अतः यहां भी 'शी' की सर्वनाम स्थान संज्ञा होती। पूर्वसूत्र से भी यहां सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं होती क्योंकि यहां पर 'जस् के स्थान पर 'शी' नहीं हुआ अपिसु 'सामन्+औट्' इस अवस्था में 'नपुंसकाच्च' से 'शी' आदेश हुआ है।

न वेति विभाषा ॥४४॥

वेति प्रतिषेधो वेति विकल्पस्तयोः प्रतिषेधविकल्पयोर्विभाषेति संज्ञा भवति। इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः। विभाषाप्रदेशेषु प्रतिषेध बिकल्पावुपतिष्ठेते। तत्र प्रतिषेधेन समीकृते विषये पश्चाद्विकल्पः प्रवर्त्तते। उभयत्र विभाषाः प्रयोजयन्ति। "विभाषा श्वे" (अ० सू० ६।१।३०)। शुशाव, शिश्वाय, शुशुवतुः, शिश्वियतुः। विभाषाप्रदेशाः। "विभाषा श्वेः" (अ० सू० ६।२।३०) इत्येवमादयः।

वृत्यर्थ—'न' यह निषेध हैं तथा 'वा' यह विकल्प है। उन दोनों की निषेध तथा विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है। सूत्र में 'इति' पद अर्थ निर्देश के लिए है। विभाषा के स्थलों में निषेध तथा विकल्प की उपस्थिति होती है। प्रतिषेध के द्वारा विषय को समीकृत (समान) कर दिये जाने पर पर बाद में विकल्प प्रवृत्त होता है। उभयत्र (प्राप्त तथा अप्राप्त) विभाषा के सूत्र ही विभाषा के प्रयोगस्थल हैं। यथा—विभाषा श्वे—शुशाव, शिश्वाय, शुशुवतुः शिश्वियतुः। विभाषा संज्ञा के विधायक सूत्र 'विभाषाश्वे' आदि हैं।

व्याख्या—निषेध तथा विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है। सूत्र में 'इति' पद इसलिए पढ़ा है कि निषेध तथा विकल्प, इन दोनों के स्वरूप का ग्रहण न हो सके अपितु निषेध तथा विकल्प रूप अर्थ का ग्रहण है। विभाषा तीन प्रकार की होती है—(१) प्राप्त विभाषा, (२) अप्राप्तविभाषा (३) प्राप्ताप्राप्त विभाषा। इस सूत्र में प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। **प्राप्त विभाषा**—यह विभाषा वहां पर होती है जहां कोई सामान्य नियम पहले से प्राप्त रहता है तथा उसका विकल्प किया जाता है। **अप्राप्त विभाषा**—यह विभाषा वहां होती है जहाँ कोई नियम पहले से प्राप्त नहीं रहता किन्तु फिर भी विकल्प किया जाता है। **प्राप्ताप्राप्त विभाषा**—जहां पर प्राप्ति तथा अप्राप्ति दोनों का भाव रहता है वहां प्राप्ताप्राप्त विभाषा होती है। प्राप्ताप्राप्त विभाषा में पहले, निषेध द्वारा विषय को समान बना दिया जाता है। तत्पश्चात् विकल्प की प्रवृत्ति होती है। यथा 'शुशाव, शिश्वाय' यहां पर √श्वि से 'णल्' प्रत्यय करने पर 'विभाषा श्वेः' से सम्प्रसारण प्राप्त होता है। 'वचि स्वपियजादीनां किति' सूत्र से √श्वि से कित् प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण पहले से ही प्राप्त है। कित् भिन्न प्रत्ययों के परे किसी से भी √श्वि को सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है। 'विभाषाश्वेः' सूत्र कहने पर विभाषा से उपलक्षित 'न' तथा 'वा' दोनों उपस्थित होते हैं। क्योंकि कित् प्रत्ययों के परे ही √श्वि को सम्प्रसारण प्राप्त है। यहाँ पर 'न' उपस्थित होकर प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध कर देता हैं। 'न' के द्वारा निषेध कर दिये जाने पर √श्वि को कहीं पर भी सम्प्रसारण प्राप्त नहीं रहा। अब 'वा' की प्रवृत्ति होती है। 'वा' प्रवृत होकर, सर्वत्र कित् तथा कित् भिन्न प्रत्ययों के परे √श्वि को एक पक्ष में सम्प्रसारण कर देता है। एक पक्ष में सम्प्रसारण नहीं होता। इस प्रकार शुशाव तथा शिश्वायये दो रूप बन जाते हैं।

पूर्वपक्ष—यदि सूत्र में 'न' का पाठ न करके 'वा विभाषा' केवल इतना ही सूत्र बनाते तो फिर भी √श्वि को विकल्प से सम्प्रसारण हो सकता था क्योंकि विकल्प प्राप्त कार्य में होता है या अप्राप्त कार्य में। 'वचि स्वपि०' से √श्वि को सम्प्रसारण प्राप्त है ही। यह प्राप्त कार्य है। अतः 'विभाषा श्वेः' कहने पर विभाषा से उपलक्षित 'वा' एक पक्ष में सम्प्रसारण कर देगा, एक पक्ष में नहीं करेगा। यदि अप्राप्त कार्य के प्रति विकल्प स्वीकार किया जाए तो प्राप्ति के बिना प्रतिषेध होता ही नहीं, अतः 'वा' के द्वारा यही अर्थ समझा जायेगा कि पक्ष में सम्प्रसारण हो जाए। इसी प्रकार प्राप्त कार्य के प्रति माने, या अप्राप्त कार्य के प्रति केवल 'वा' से ही कार्य चल जायेगा, 'न' की आवश्यकता नहीं है।

उत्तर पक्ष—यदि 'वचि स्वपि०' से प्राप्त विभाषा के प्रति वा के द्वारा निषेध मुख से विकल्प की प्रवृत्ति केवल कित् प्रत्ययों के परे ही होगी,

अन्यत्र नहीं, क्योंकि 'वचिस्वपि०' से कित् प्रत्ययों के परे होने पर विकल्प से निषेध तथा कित् भिन्न पित् प्रत्ययों के परे रहने पर सम्प्रसारण का विधान ये दोनों कार्य एक ही सूत्र नहीं कर सकेगा। यदि विधिमुख से विकल्प की प्रवृत्ति मानी जाए तो पित् प्रत्ययों के परे रहने पर ही विकल्प की प्रवृत्ति होगी, कित् प्रत्ययों के परे रहने पर नहीं, क्योंकि वहां तो पहले से ही विधि प्राप्त है। एक ही सूत्र द्वारा कित् प्रत्ययों के परे रहने पर विकल्प से विधि तथा कित् प्रत्ययों के परे रहने पर विकल्प से निषेध ये दो कार्य नहीं हो सकते। इसलिए 'विभाषा श्वेः' के द्वारा कित् तथा पित् प्रत्ययों के परे सम्प्रसारण का विधान किया जाता है।

शुशाव

टुओश्वि + तिप् = श्वि + तिप्
परस्मैपदानां० —श्वि + णल्
विभाषाश्वेः —श् उ इ + अ
सम्प्रसारणाच्च —शु + अ
लिटि धातोः० —शु + शु + अ
अचोऽञ्णिति —शु + शौ + अ
एचोऽयवायावः —शु + शाव् + अ = शुशाव

शुशुवतुः

श्वि + तस्
परस्मैपदानां —श्वि + अतुस्
विभाषाश्वेः —श् उ इ + अतुस्
सम्प्रसारणाच्च — शु + अतुस्
लिटिधातोः० — शु + शु + अतुस्
अचिश्नु० —शु + श् उ व ङ् + अतुस्
शु श् उव् अतुस् = शुशुवतुस्
रुत्व विसर्ग — शुशुवतुः

शिश्वाय

श्वि + णल्
लिटिधातोः० — श्वि + श्वि + णल्
हलादिः शेषः — शि + श्वि + अ
अचोऽञ्णिति — शि + श्वै + अ
एचोऽयवायावः — शि + श्वाय् + + अ = शिश्वाय

इस पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ अतः श्वि को ही द्वित्व हुआ है।

शिश्वियतुः

श्वि + अतुस्
लिटिधातोः० — श्वि + श्वि + अतुस्
हलादिः शेषः — शि + श्वि + अतुस्
अचिश्नु० — शि + श्व् + इयङ् अतुस्
शि + श्व् + इय् + अतुस् = शिश्वियतुस्
रुत्व विसर्ग = शिश्वियतुः।
इस पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ है।

इग्यणः संप्रसारणम् ।।४५।।

इग्योयणः स्थाने भूतो भावी वा तस्य संप्रसारणमित्येषा संज्ञा भवति । यज्—इष्टम् । वप्—उप्तम् । ग्रह् गृहीतम् । केचिदुभयथा सूत्रमिदं व्याचक्षते । वाक्यार्थः संज्ञी वर्णश्चेति । इग्यण इति यो वाक्यार्थः स्थान्यादेशसम्बन्धलक्षणः स संप्रसारणसंज्ञो भवति, यणस्थानिक इग्वर्णः स संप्रसारणसंज्ञो भवतीति । तत्र विधौ वाक्यार्थ उपतिष्ठते । "ष्यङः संप्रसारणम्" (अ० सू० ६।१।१३) "वसोः संप्रसारणम्" (अ० सू० ६।१।१३१) इति । अनुवादे वर्णः । "संप्ररणाच्च" (अ० सू० ६।१।१०८) इति संख्यातानुदेशादिह न भवति, अदुहितरामिति । संप्रसारणप्रदेशाः । "वसोः संप्रसारणम्" (अ० सू० ६।४।१३१) इत्येवमादयः ।

वृत्त्यर्थ—'यण्'के स्थान में जो 'इक्' हुआ है या होने वाला है, उसकी 'सम्प्रसारण' संज्ञा होती है । जैसे √यज् से इष्टम्, √वप् से उप्तम्, √ग्रह से गृहीतम्, यहाँ पर 'इ, उ, ऋ' की सम्प्रसारण संज्ञा है । कुछ आचार्य इस सूत्र को दो प्रकार से व्याख्या करते हैं- वाक्यार्थ संज्ञीं है तथा वर्ण संज्ञी है । अर्थात् स्थानी तथा आदेश के सम्बन्ध का सूचक 'यण् के स्थान पर इक्' यह जो वाक्यार्थ है, इसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है। (२) यण् के स्थान पर जो इक् वर्ण है, उसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है । वहां विधि सूत्रों में वाक्यार्थ उपस्थित होता है जैसे—ष्यङः सम्प्रसारणम्, वसोः सम्प्रसारणम् । अनुवाद में वर्ण धपस्थित होता है जैसे—"संप्रसारणाच्च" । संख्या के अनुदेश से यहां सम्प्रसारण संज्ञा नहीं होती है जैसे —अदुहितराम् । सम्प्रसारण संज्ञा के विधान सूत्र वसोः सम्प्रसारणम् इत्यादि सूत्र हैं ।

व्याख्या— यण् के स्थान पर जो 'इक्' हो चुका या भविष्य में होगा, इन दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होती है । यथा इष्टम्, गृहीतम् ।

इष्टम्— यज् + क्त	गृहीतम्— ग्रह् + क्त
वाचि स्वपि०— इ अ ज् + त	ग्रहि ज्यावपि० गृह् + त
सम्प्रसारणाच्च इ ज् + त	आर्धधातु०— ग्रह् + इट् + त
व्रश्चभ्रस्ज० इष् + त	ग्रहोऽलिटि०— गृह् + ई + त
ष्टुनाष्टुः = इष्ट् ।	गृहीतम्
इष्ट + सु = इष्टम्	
इसी प्रकार + वप् + क्त	
उप्तम् ।	

इन तीनों उदाहरणों में 'य् व् तथा र् के स्थानों पर होने वाले (भावी) वर्णों इ उ तथा ऋ की सम्प्रसारण संज्ञा होती है क्योंकि 'य् व् र्' के स्थानों पर आने से पूर्व ही सम्प्रसारण विधायक सूत्रों 'वचि स्वपि०' तथा 'ग्रहिज्या०' द्वारा 'इ उ ऋ' को सम्प्रसारण नाम दे दिया गया । अतः यह भावी वर्णों

की संज्ञा है । य् व् र् के स्थानों पर आने के बाद भी 'इ उ ऋ' (भूत) वर्णों की सम्प्रसारण संज्ञा रहती है । इसका लाभ यह है कि 'इ अ ज्' 'उ अ प्' इन अवस्थाओं में 'इ' तथा 'उ' की सम्प्रसारण संज्ञा होने से 'सम्प्रसारणाच्च' से 'अ' को पूर्वरूप हो जाता है ।

कुछ आचार्य भावी 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा स्वीकार नहीं करते हैं । अतः वे इस सूत्र की दो प्रकार से व्याख्या करते हैं । उनके अनुसार (१) 'यण्' के स्थान पर हो चुकने वाले 'इक्' की भी सम्प्रसारण संज्ञा होती है । विधि सूत्रों में वाक्यार्थ लिया जाता है । यथा—ष्यङः सम्प्रसारणम्-ष्यङ् प्रत्ययान्त शब्द को सम्प्रसारण हो जाए । वसोः सम्प्रसारणम्—वसु प्रत्ययान्त शब्द को सम्प्रसारण हो जाए "यहाँ पर 'यण् के स्थान पर इक् हो जाए" इस वाक्यार्थ का ग्रहण किया जाता है । सम्प्रसारण=(यण् के स्थान पर इक्) कर चुकने के पश्चात् जो कार्य किया जाता है, वह अनुवाद कहलाता है । अनुवाद में वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा होती है । जैसे—'सम्प्रसारणाच्च' —सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप हो जाए । यहां पर सम्प्रसारण संज्ञक 'इक्' वर्ण का ग्रहण किया जाता है । अतः 'इ अ ज्' तथा 'उ अ प्' इन अवस्थाओं में 'इ' तथा 'उ' की सम्प्रसारण संज्ञा होकर 'अ' को पूर्वरूप हो जाता है ।

ये दो व्याख्यायें करने का लाभ यही है कि यण् के स्थान पर होने वाले (भावी) 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा हो, सूत्र का यह अर्थ नहीं करना पड़ता । वाक्यार्थ की सम्प्रसारण संज्ञा मान कर ही कार्य चल जाता है । 'यण्' के स्थान पर हो चुके (भूत) 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा होती है, यह सूत्रार्थ भी नहीं करता पड़ता इस पक्ष में वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा मानकर कार्य चल जाता है ।

'यण्' में 'य् व् र् ल्' में चार वर्ण आते हैं तथा 'इक्' में 'इ उ ऋ लृ' ये चार । पूर्व चारों वर्णों के स्थान पर क्रमशः होने वाले इ उ ऋ की ही सम्प्रसारण संज्ञा होती है । अन्यत्र नहीं । यथा—अदुहितराम् ।

अदुहितराम्—√दुह्+लङ्
कर्मवत्कर्मणा० दुह्+इट्
लुङ्लङ्लृङ० -अट्+दुह्+इट्
'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' से यक् प्रतिषेध
कर्त्तरि शप्—अ+दुह्+शप्+इट्
अदिप्रभृतिभ्यः०—अ+दुह्+इ=अदुहि
तिङश्च—अदुहि+तरप्
किमेत्तिङव्यय०—अदुहि+तर+आम्=अदुहितराम्

यहाँ वर लङ् लकार के स्थान में इट् (इ) हुआ हैं, यण् के स्थान में नहीं। अतः इसकी सम्प्रसारण संज्ञा नहीं होती। यदि 'इ' की सम्प्रसारण संज्ञा हो जाती तो इसे 'हलः' से दीर्घत्व प्राप्त था।

'आद्यन्तौ टकितौ' ॥४६॥

आदिष्टिद्भवति अन्तः किद्भवति। षष्ठीनिर्दिष्टस्य। लविता, **मुण्डो भीषयते। टित्प्रदेशाः—"आर्धधातुकस्येड्वलादेः" (अ० सू० ७।२।४५) इत्येवमादयः। कित्प्रदेशाः—'भियो हेतुभये षुक्** (अ० सू० ७।३।४०) **इत्येवमादयः।**

वृत्यर्थ—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट का आदि टित् होता है तथा अन्त कित होता है। यथा—लविता मुण्डो भीषयते। टित् का विधान करने वाले 'भियो हेतुभये षुक्' आदि सूत्र हैं।

व्याख्या—लविता—√लूञ्
स्यतासी लृलुटोः लू+तासी+तिप्
लुटः प्रथमस्य० लू+इट्+तास्+डा
डित् सामर्थ्याद० लू+इ+त्+आ
सार्वधातुका० लो+इ+त्+आ
एचोऽवा—लव्+इ+त्+आ=लविता

भीषयते √भी+त
हेतुमति च भी+णिच्+त
भियो हेतुभये०—भी+षुक् णिच्+त
भीस्मयो०—भी+ष्+इ+त
कर्त्तरिशप् भी+ष्+इ+शप्+त
सार्वधातुका० भी+ष्+ए+अ+त
एचोऽयवा० भी+ष्+अय्+अ+त
टित आत्मने० भी+ष्+अय् अ+ते=भीषयते

यहां पर लविता में 'तासी' को इट् का आगम हुआ है। टित् होने के कारण यह तासी के आदि भाग में होकर इसका अवयव बन जाता है। यदि अवयव न बनता तो इक् का व्यवधान होने के कारण 'लू' को गुण नहीं हो सकता था।

भीषयते में भी को 'षुक्' का आगम हुआ है। कित् होने से यह √भी के अन्त में होकर इसका अवयव बन जाता है। अतः √भी को गुण नहीं हुआ।

मिदचोऽन्त्यात्परः ॥४७॥

अच इति निर्धारणे षष्ठी। जातौ चेदमेकवचनम्। अचां सन्निविष्टानामन्त्यादचः परो मिद्भवति स्थानेयोगप्रत्ययपरत्वस्यायमपवादः। विरुणद्धि।

मुञ्चयति पयांसि। मित्प्रदेशाः। "रुधादिभ्यः श्नम्" (अ० सू० ३।१।७८) इत्येवमादयः। मस्जेरन्त्यात्पूर्वं नुममिच्छन्त्यनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्। मग्नः, मग्नवान्, मङ्क्ता, मङ्क्तुम्।

वृत्यर्थ—अचः—यह निर्धारण में षष्ठी है तथा जाति में एक वचन है। अचों के समुदाय में अन्तिम अच् से परे मित् आगम होता है यह सूत्र 'षष्ठी स्थाने योगाः, प्रत्ययः, परश्च' इन सूत्रों का अपवाद है। विरुणद्धि। मुञ्चति। पयांसि। मित् का विधान करने वाले सूत्र 'रुधादिभ्यः श्नम्' आदि हैं।

वार्त्तिक—कुछ आचार्य √मस्जि के अन्तिम वर्ण से पूर्व नुम् आगम करना चाहते हैं—अनुषङ्ग तथा संयोगादि लोप के लिए। जैसे—मग्नः। मग्नवान्। मङ्क्ता। मङ्क्तुम्।

व्याख्या—षष्ठी स्थाने योगा सूत्र के अनुसार अनिश्चित सम्बन्ध वाली षष्ठी विभक्ति स्थान के सम्बन्ध वाली होती है। यथा—इको गुणवृद्धि—इक् के स्थान में ही गुण-वृद्धि होते हैं। यह सूत्र 'षष्ठी स्थाने०' का अपवाद है। इसका अर्थ है कि आगम या प्रत्यय आदि यदि 'मित्' होंगे तो वे अन्तिम 'अच्' से परे ही होंगे। इसी प्रकार यह सूत्र "प्रत्ययः, परश्च" सूत्रों का भी अपवाद है। इन सूत्रों का अर्थ है कि जितने भी प्रत्यय हैं, वे धातु या प्रातिपदिकों के बाद ही होते हैं। यह सूत्र निश्चित करता है कि यदि मित् प्रत्यय होगा तो वह अन्तिम 'अच्' से परे ही होगा। यथा—

रुणद्धि—√रुध् + तिप्
रुधादिभ्यः०—रुध् + श्नम् + ति
झषस्तथोर्धो० रु + न + ध् + धि
झलां जश्० रु + न + द् + धि
अट् कुप्० रु + ण + द् + धि
रुणद्धि

मुञ्चति—√मुच् + तिप्
तुदादिभ्यः श मुच् + श + ति
शे मुचादीनाम् मु + नुम् + च् + श + ति
मु + न् + च् + अ + ति
स्तोश्चुनाश्चुः मु + ञ् + च् + अ + ति
मुञ्चति

पयांसि—पयस् + जश्
जश्शसो शि—पयस् + शि
नपुंसकस्य झलचः—पय + नुम् + स् + शि
सान्तमहतः संयोगस्य—पया + न् + स् + इ
नश्चापदान्त झलि—पयां + स् + इ = पयांसि

यहां पर 'श्नम्' तथा 'नुम्' दोनों मित् हैं। अतः सर्वत्र अन्तिम अच् के परे हुए हैं।

मग्नः √टुमस्जि + क्त
मस्जिनशो० मस् + नुम् + ज् + त
स्को: संयोगद्यो० म + न् + ज् + त
अनिदितां० म + ज् + त्
चोः कुः म + ग् + त
ओदितश्च म + ग् + न = मग्नः
मग्नवान् — √टुमस्जि + क्तवतु
मस्न् + नुम् + ज् + तवत्
म + न् + ज् + तवत्
म + ज् + तवत्
म + ग् + तवत् = मग्नवान्

मङ्क्ता—मस्जि + तृच्
मस्जिनशो० मस् + नुम् + ज् त्
स्को: संयोगाद्यो० म + न् + ज् त्
चोकुः म + न् + ग् + तृ
खरि च—म + न् + क् + तृ
नश्चापदान्तस्य० मं + क् + तृ
अनुस्वारस्य० मङ्० कतृ
मङ्क्तृ + सु = मङ्क्ता

सूत्र के नियमानुसार प्राप्त धातु में अन्तिम 'अच्' के पश्चात् (मकारस्थ अकार के पश्चात्) 'म नुम् स्ज्' था। जिससे 'म नुम् स्ज् + क्त' इस अवस्था में 'अनिदितां०' से 'न्' का लोप तथा 'स्को: संयोगाद्यो०' से 'स्' का लोप प्राप्त नहीं हो सकता। अतः नकार तथा सकार के लोप के लिए अन्तिम वर्ण 'ज्' से पूर्व 'नुम्' किया जाता है। जिससे उक्त रूपों की सिद्धि हो जाती है। पूर्वाचार्यों की उपधा संज्ञक नकार की अनुषङ्ग संज्ञा है।

एच इग्घ्रस्वादेशे ॥४८॥

एचो ह्रस्वादेशे कर्त्तव्य इगेव ह्रस्वो भवति नान्यः। रै—अतिरि। नो—अतिनु। गो—उपगु। एच इति किम्? अतिखट्वः, अतिमालः। ह्रस्वादेश इति किम्? देवदत्त, देवद३त्त।

वृत्यर्थ—'एच्' प्रत्याहार के स्थान पर ह्रस्वादेश करने पर 'इक्' ही ह्रस्व होता है, अन्य नहीं। जैसे रै—अतिरि। नौ-अति नु। गो-उपगु। एच् क्यों कहा है? अति खट्वः, अति मालः। ह्रस्वादेश क्यों कहा है? दे३वदत्तः, देवद३त्तः।

व्याख्या—अतिरि — रायमतिक्रान्तं कुलम्
अति + रै + अम्
अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे०
सुपोधातु० अति रै
ह्रस्वोनपुंसके० अति रि
कृत्तद्धित समासाश्च
ङ्याप् प्राति० अतिरि + सु
अव्ययी भावश्च
अव्ययादाप्सुपः अतिरि
इसी प्रकार नावमतिक्रान्तंकुलम्-अतिनु

उपगु—गोः समीपम्
गो + ङस् + उप
अव्ययं विभक्ति०
सुपोधातु० गो उप
प्रथमानिर्दिष्टं समासेउपसर्जनम्
उपसर्जनं पूर्वम् उपगो
गोस्त्रियो रुप० उपगु
उपगु + सु
अव्ययी भावश्च, अव्यायादप्सुपः
उपगु

इन उदाहरणों में 'अतिरि' में 'ऐ' के स्थान पर 'इ', 'अति नु' में 'नौ' के स्थान पर 'उ' तथा 'उपगुः' में 'ओ' के स्थान पर 'उ', ह्रस्व होकर बने हैं सूत्र में 'एच्' का ग्रहण इसलिए किया है कि 'खट्वामति क्रान्तः, मालामति-क्रान्तः' यहाँ पूर्ववत् समास करने पर, गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य से खट्वा, माला के आकार को ह्रस्व करने पर अतिखट्व, अतिमाल रूप प्राप्त होते होते हैं। यहाँ पर 'ऐच्' के स्थान पर ह्रस्व नहीं हुआ अपितु 'आ' के स्थान पर हुआ है। अतः यहाँ 'इक्' की उपस्थिति नहीं होती।

ह्रस्वादेश इस लिए कहा है कि उदात्तादेश तथा प्लुतादेश करने में 'इक्' उपस्थित नहीं होता। जिससे 'दे३वदत्त' में 'आमन्त्रितस्य च' से आदि उदात्त करने पर तथा 'देवद३त्तः' में 'गुरोऽनृतोऽनन्त्यस्य' से प्लुतादेश करने पर 'इक्' की उपस्थिति नहीं होती।

षष्ठी स्थाने योगा ।।४९।।

परिभाषेयं योगनियमार्था। इह शास्त्रे या षष्ठी अनियतयोगा श्रूयते सा स्थाने योगैव भवति, नान्ययोगा। योगनिमित्तभूते सति सा प्रतिपत्तव्या। स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची। यथा दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यमिति दर्भाणां प्रसङ्ग इति गम्यते। एवमिहापि अस्तेः स्थाने प्रसङ्गे भूर्भवति— भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। ब्रुवः प्रसङ्गे वचिर्भवति—वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। प्रसङ्गे सम्बन्धस्य निमित्तभूते ब्रुव इति षष्ठी। बहवो हि षष्ठ्यर्थाः—स्वस्वाम्यनन्तरसमीपसमूहविकारावयवाद्यास्तत्र यावन्तः शब्दे संभवन्ति तेषु सर्वेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते 'षष्ठी स्थाने योगा' इति। स्थाने योगोऽस्या इति व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। अत एव निपातनाच्च सप्तम्या अलुक्।

वृत्यर्थ—यह परिभाषा आदेश के नियम के लिए है। इस व्याकरण शास्त्र में जो षष्ठी अनिश्चित सम्बन्ध वाली सुनी जाती है, वह स्थानयोग के निमित्त भूत होने पर ही पर जाननी चाहिए। स्थान शब्द प्रसङ्ग का वाचक है। यथा—दर्भों के स्थान पर शरों को फैलाना चाहिए, इससे दर्भों का प्रसङ्ग जाना जाता है। इसी प्रकार यहां पर भी √'अस्' के स्थान अर्थात् प्रसङ्ग में 'भू' आदेश होता है—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। √ब्रू के प्रसङ्ग में 'वच्' आदेश होता है—वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। यहाँ प्रसङ्ग अर्थात् सम्बन्ध के निमित्त भूत होने पर 'ब्रुव' में षष्ठी है। षष्ठी के अनेक अर्थ हैं। जैसे— स्व, स्वामी भाव, अनन्तर, समीप, समूह, विकार, अवयव आदि[1] शब्द में जितने अर्थ सम्भव हो सकते हैं, उन सब के प्राप्त होने पर नियम किया

१. महाभाष्य में कहा है—एकशतं हि षष्ट्यर्थाः। अर्थात् षष्ठी विभक्ति के सैंकड़ों अर्थ हैं।

जाता है कि षष्ठी का स्थान के साथ सम्बन्ध हो। स्थान में योग (सम्बन्ध) है इसका, इस प्रकार यह व्यधिकरण बहुव्रीहि है। अतः एव निपातन से सप्तमी (स्थाने) का अलुक् रहता है।

विशेष—बहुव्रीहि समास में समानाधिकरण रहता है जैसे—पीतानि अम्बराणि यस्य स पीताम्बरः। यहां पीतानि तथा अम्बराणि दोनों का अधिकरण एक ही है। दोनों में एक ही विभक्ति तथा वचन हैं। 'स्थाने योगोऽस्याः' में एक अधिकरण नहीं है। विभक्ति भी भिन्न भिन्न है। इसीलिए निपातन से ही 'स्थाने' यहां पर सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता।

स्थानेऽन्तरतमः ॥५०॥

स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवति सदृशतमः। कुतश्च शब्दस्यान्तर्यम्। स्थानार्थगुणप्रमाणतः। स्थानतः, "अकः सवर्णे दीर्घः" (अ० सू० ६।१।१०१) दण्डाग्रम्, यूपाग्रम्। द्वयोरकारयोः कण्ठ्य एव दीर्घ आकारो भवति। अर्थतः, वतण्डी चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः। पुंवद्भावेनान्तरतमः पुंशब्दोऽतिदिश्यते। गुणतः, पाकः, त्यागः, रागः, 'चजोः कुघिण्ण्यतोः, (अ० सू० ७।३।५२) इति चकारस्याल्पप्राणस्याघोषस्य तादृश एव ककारो भवति। जकारस्य घोषवतोऽल्पप्राणस्य तादृश एव गकारः। प्रमाणतः, अमुष्मै, अमूभ्याम्। अदसोर्दादुदोमः" (अ० सू० ८।२।८०) इति ह्रस्वस्य ह्रस्वो दीर्घस्य दीर्घः। स्थान इति वर्त्तमाने पुनः स्थानेग्रहणं किम्, यत्रानेकमान्तर्यं संभवति तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात्। चेता, स्तोता। प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्तस्तत्र स्थानत आन्तर्यादेकारौकारौ भवतः। तमब्ग्रहणं किम्, वाग्घसति, त्रिष्टुब्भसति,। "झयो होन्यतरस्याम्" (अ० सू० ८।४।६२) इति हकारस्य पूर्वसवर्णे क्रियमाणे 'सोष्मणः सोष्माण' इति द्वितीयाः प्रसक्ताः, नादवतो नादवन्त' इति तृतीयाः, तमब्ग्रहणाद् ये सोष्माणो नादवन्तश्च ते भवन्ति चतुर्थाः।

स्थान में प्राप्त होने वालों को अन्तरतम-सदृशतम आदेश होता है। शब्द का अन्तर्य अर्थात् सदृशता कैसे होती है? स्थान, अर्थ गुण तथा प्रमाण से। स्थान सादृश—'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'दण्डाग्रम्' यूपाग्रम्' में दोनों अकारों के स्थान पर कण्ठस्थानीय दीर्घ आकार ही होता है। **अर्थसादृश्य**—'दतण्डी चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः' में पुंवद्भाव से अन्तरम वातण्ड्य शब्द का अतिदेश किया गया है। गुणसादृश्य—'पाकः, त्यागः, रागः' में 'चजोः कुघिण्ण्यतोः' से अल्पप्राण अघोष चकार के स्थान में वैसा ही ककार होता है। अल्पप्राण तथा घोष जकार के स्थान में वैसा ही गकार होता है। **प्रमाणकृतसादृश्य**—'अमुष्मै, अमूभ्याम्' में 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' से ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व उकार तथा दीर्घ आकार के स्थान पर दीर्घ आकार होता है।

पूर्वसूत्र से 'स्थाने' की अनुवृत्ति आ रही थी, पुनः यहाँ पर 'स्थाने' का इस ग्रहण इसलिए किया है कि जहां पर अनेक प्रकार का सादृश्य ही बलवान् होता है। जैसे 'चेता, स्तोता' में प्रमाणकृत सादृश्य के आधार पर एकार व ओकार आदेश होते हैं (अकार नहीं)। अन्तरतमः में 'तमप्' का ग्रहण इसलिए किया है कि 'वाग्घसति' 'त्रिष्टुब्भति' में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' से हकार के स्थान में पूर्वसवर्ण की प्राप्ति होने पर उष्मगुण युक्त हकार के स्थान में उष्मगुणयुक्त (वर्ग के) द्वितीय अक्षर की प्राप्ति होती है तथा नादगुणयुक्त हकार के स्थान में नादगुणयुक्त (वर्ग के तृतीय वर्ण) की प्राप्ति होती है। तमप् ग्रहण के कारण उष्मगुणयुक्त तथा नादगुणयुक्त वर्गों के चतुर्थ वर्ण ही यहां पर होते हैं।

व्याख्या—स्थानकृत सादृश्य—मुख में प्रत्येक वर्ण के बोलने का स्थान निश्चित है। स्थानकृत सादृश्य का अर्थ है कि जो स्थान स्थानी का है वही स्थान आदेश का भी होना चाहिए। जैसे—'दण्ड+अग्रम् यूप+अग्रम्' में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ की प्राप्ति होती है। अब यहां पर दीर्घ 'ई, ऊ' भी हो सकते हैं। किन्तु 'अ' तथा 'आ' का स्थान कण्ठ है। अतः इस सूत्र के अनुसार यहाँ पर 'आ' ही आता है, 'ई, ऊ' नहीं।

२. **अर्थकृत सादृश्य**—स्थानी तथा आदेश में अर्थ की समानता भी होनी चाहिए। एक वचन के स्थान पर एकवचन, द्विवचन के स्थान पर द्विवचन तथा बहुवचन के स्थान पर बहुवचन के अर्थ वाले प्रत्यय ही होते हैं। यथा लिट् लकार में तिप्, तस् झि के स्थान पर एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व के अर्थ वाले ही णल्, अतुस्' उस् प्रत्यय होकर पपाच, पपचतुः, पपचुः आदि रूप बनते हैं। इसी प्रकार 'वतण्डी चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः' यहां पर वतण्डी के स्थान पर वातण्ड्य आदेश हुआ है। जो अर्थ स्त्रीलिङ्ग वतण्डी शब्द का वही अर्थ पुल्लिङ्ग वातण्ड्य शब्द का है।

वतण्डी=वतण्डस्यापत्यं स्त्री।	वातण्ड्य—वतण्डस्यापत्यं पुमान्
वतण्डाच्च—वतण्ड+यञ्	वतण्डाच्च—वतण्ड+यञ्
लुक्स्त्रियाम्—वतण्ड	यस्येति च—वतण्ड्+य
शार्ङ्गवाद्यञो०—वतण्ड+ङीन् (ई)	तद्धितेष्वचामादेः— वातण्ड+य
यस्येति च—वतण्ड्+ई=वतण्डी	

इस प्रकार वतण्डी तथा वातण्ड्य ये दोनो शब्द समानार्थक है। अब वतण्डी चासौ युवतिश्च' इस अवस्था में 'पोटायुवति०' सूत्र से समास करने में 'पुंवत् कर्मधारय०' से पुंवद्भाव होकर वतण्डी के स्थान पर वातण्ड्य आदेश होकर 'वातण्डययुवतिः' बनता है।

३. **गुणकृत सादृश्य**—गुण का अर्थ वर्ण को बोलने का प्रयत्न है। जो प्रयत्न स्थानी का हो वही आदेश का भी होना चाहिए। यथा 'पच्+घञ्=पाकः, त्यज्+घञ्=त्यागः, रञ्ज्+घञ्=रागः' यहाँ पर 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से चकार तथा जकार के स्थान में कवर्ग की प्राप्ति होती है। चकार अल्प प्राण तथा अघोष प्रयत्न वाला है। इसके स्थान पर उसी प्रयत्न वाला ककार होता है। जकार घोष तथा अल्पप्राण है। इसके स्थान पर उसी प्रयत्न वाला गकार होकर उक्त रूप बनते हैं।

४. **प्रमाणकृत सादृश्य**—एक मात्रिक वर्ण के स्थान पर एक मात्रिक, द्विमात्रिक के स्थान पर द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक वर्ण के स्थान पर द्विमात्रिक आदेश होते हैं। यथा—

अमुष्मै=अदस्+ङे
त्यदादीनाम—अ द अ+ए
अतोगुणे—अ द+ए
अदसोऽसे०—अ म् उ+ए
सर्वनाम्नः स्मै—अमु+स्मै
आदेश प्रत्ययोः—अमुष्मै

अमूभ्याम्=अदस्+भ्याम्
अतोगुणे—अ द+भ्याम्
सुपि च—अदा+भ्याम्
अदसोऽसे०—अ म् ऊ+भ्याम्
=अमूभ्याम्।

यहाँ दोनों स्थानों पर 'अदसोऽसे०' सूत्र से 'अदस्' शब्द के 'द्' के स्थान पर 'न्' तथा 'द्' से अगले वर्ण को 'उ' होता है। प्रमाणकृत सादृश्य के आधार पर अमुष्मै में ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार तथा दीर्घ आकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार ही होता।

'षष्ठी स्थाने योग' से 'स्थाने' की अनुवृत्ति आ रही थी। यहां पर पुनः 'स्थान' का ग्रहण इसलिए किया है कि जहां पर अनेक प्रकार का सादृश्य नहीं। जैसे 'चि+ता, स्तु+ता' यहां पर इकार तथा उकार के स्थान में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण प्राप्त है। 'अ, ए, ओ' इन तीनों की गुण संज्ञा हैं। 'अ, इ, उ' तीनों एकमात्रिक हैं। यह प्रमाणकृत सादृश्य है। 'इ' का स्थान तालु है तथा ए का कण्ठतालु। इसी प्रकार 'उ' का स्थान ओष्ठ है तथा ओ का कण्ठोष्ठ। अतः 'इ' तथा 'उ' के स्थान में प्रमाणकृत सादृश्य के आधार पर अकार न होकर स्थानकृत सादृश्य के आधार पर 'ऐ' तथा 'ओ' ही होते हैं।

तमप् का ग्रहण अत्यन्त सादृश्य के लिए किया है। अत्यन्त सदृश वर्ण ही अपने सवर्णी के स्थान पर होता है। जैसे—

'वाक्+हसति' यहां पर 'झयो हो ऽन्यतरस्याम्' से हकार के स्थान में विकल्प से पूर्वसवर्ण होता है। 'क ख, ग, घ' ये चारों वर्ण ही हकार के सवर्णी हैं। किन्तु इनमें 'क' अघोष, अल्पप्राण है एवं 'ह' घोष, महाप्राण है। अतः 'क' नहीं होता। 'ख' तथा 'ह' दोनों महाप्राण हैं किन्तु 'ख' अघोष

है तथा 'ह' घोष है। अतः 'ख' भी नहीं होता। 'ह' तथा 'ग' यद्यपि दोनों घोषवर्ण हैं किन्तु 'ग' अल्पप्राण है तथा 'ह' महाप्राण है। अतः 'ग' भी नहीं होता। इस प्रकार 'ह' के स्थान पर 'क, ख, ग' तीनों ही नहीं होते। क्योंकि ये वर्ण 'ह' के अत्यन्त सदृश होने के कारण 'ह' के स्थान पर 'घ' ही होता है। 'वाक्+घसति' यह रूप बनकर 'झलां जशोऽन्ते' से 'क्' को 'ग्' बनकर वाग् घसति रूप बनता है। इसी प्रकार 'त्रिष्टुप्+हसति' यहां पर भी 'झयो होऽन्यतरस्याम्' से 'ह' के स्थान में 'प, फ, ब, भ' इन चारों वर्णों में से 'ह' के अत्यन्त सदृश 'भ्' ही होता है। 'ह्' तथा 'भ्' दोनों घोष तथा महाप्राण हैं। तत् पश्चात् 'झलां जशोऽन्ते' से 'प्' को 'ब्' होकर 'त्रिष्टुब्भसति' रूप बनता है। उक्त दोनों उदाहरणों में 'ह' को पूर्वसवर्ण करने में 'उष्म वर्णों के स्थान पर ऊष्म वर्ण' इस दृष्टि से वर्गों के द्वितीय अक्षर 'ख, फ' प्राप्त हैं। क्योंकि 'ख' 'फ' तथा 'ह' 'ऊष्म वर्ण हैं। 'नाद वर्णों के स्थान पर नाद वर्ण' इस दृष्टि से हकार के स्थान में वर्गों के तृतीय अक्षर 'ग, ब' प्राप्त हैं। क्योंकि 'ग ब' तथा 'ह' नाद प्रयत्न वाले हैं। 'तमप्' ग्रहण करने के कारण उष्म गुण तथा नाद प्रयत्न वाले 'ह्' के स्थान पर उष्म गुण तथा नाद प्रयत्न वाले वर्गों के चतुर्थ अक्षर 'घ्, भ्' ही होते हैं।

उरण् रपरः ॥५१॥

उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो वेदितव्यः। कर्त्ता, हर्त्ता, किरति, गिरति, द्वैमातुरः, त्रैमातुरः। उरिति किम्, खेयम्, गेयम्। अण् ग्रहणं किम्, "सुधातुरकङ् च" (अ० सू० ४।१।९७) सौधातकिः।

धृत्यर्थ—'ऋ' के स्थान में होने वाला 'अण्' रपर ही होता है। जैसे कर्त्ता, हर्त्ता, किरति, गिरति, द्वैमातुरः, त्रैमातुरः। 'ऋ' के स्थान में इसलिए कहा है कि खेयम्, गेयम् में अण् 'रपर' नहीं होता है। अण् का ग्रहण इसलिए किया है कि 'सुधातुरकङ्च' से 'सुधातृ' शब्द को 'अकङ्' आदेश होकर 'सौधातकिः' रूप बनता है। यहां पर 'ऋ' के स्था पर होने वाला 'अकङ्' रपर नहीं होता है।

व्याख्या—यह परिभाषा सूत्र है। रपर का अर्थ है—रपरो यस्मात् स रपरः ' अर्थात् 'र' है परे जिससे, वह रपर कहलाता है। ऋ वर्ण के स्थान पर होने वाले अण्=अ इ उ को रपर समझना चाहिए। यथा—

कर्त्ता

कृ+तृच्
सार्वधातुका० क् अर्+तृ
कर्तृ+सु=कर्त्ता
इसी प्रकार हृ+तृच्=हर्त्ता

कारकः

कृ+ण्वुल् (वु)
युवोरनाकौ—कृ+अक
अचोञ्णिति=क् आर्+अक
कारक+सु=कारकः

यहां पर 'ऋ' के स्थान पर गुण (अ) तथा वृद्धि (आ) हुए है। ये दोनों रेफ सहित ही होते हैं। इसी प्रकार—

किरति

तुदादिभ्यः शः—कृ+श+तिप् इसी प्रकार गृ+श+ति=गिरति।

ऋत इद्धातोः—क् इ र्+अ+ति

यहां पर 'ऋ' के स्थान पर होने वाली इकार रपर होती है।

द्वैमातुरः=द्वयोः मात्रोरपत्यं पुमान्

द्वि+ओस्, मातृ+ओस्

तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च से समास

सुपोधातुप्रातिपदिकयोः—द्वि मातृ।

मातुरुत्संख्या सम्भद्रपूर्वायाः—द्वि मात् उर्+अण् (अ)=

तद्धितेष्वचामादेः—द्वैमातुर्+अ=द्वैमातुरः।

इसी प्रकार तिसृणां मातृणामपत्यं—त्रैमातुरः।

यहां पर 'मातुरुत् संख्या०' से अण् प्रत्यय तथा 'ऋ' के स्थान पर 'उत्' हुआ है। 'उ' 'अण्' होने के कारण रपर ही होता है। 'ऋ' के स्थान में होने वाला 'अण्' ही रपर होता है, ऐसा इसलिए कहा है कि जिससे 'ऋ' से भिन्न स्थान पर होने वाला 'अण्' रपर न हो। यथा खेयम्, गेयम्।

खेयम्—√खन्	गेयम्—गै+यत्
ई च खनः—ख ई+क्यप्	आदेच उपदेशे० गा+य
आद्गुणः—खेय	ईद्यति—गी+य
खेय+सु—खेयम्	सार्वधातुकार्ध०—गेय—गेयम्

यहां पर 'खेयम्' में नकार के स्थान पर 'ई'=अण् हुआ है तथा 'गेयम्' में ऐकार के स्थान पर आकार हुआ है। ये 'ऋ' के स्थान में न होने के कारण रपर नहीं बनें।

सूत्र में 'अण्' का ग्रहण इसलिए किया गया है कि 'ऋ' के स्थान पर होने वाला 'अण्' ही रपर होगा अन्य नहीं। यथा—सौधातकिः। सुधातृ—

सुधातुरकङ् च—सुधात् अकङ्+इञ्।

तद्धितेष्वचामादेः—सौ धात् अक+इ।

यहाँ पर 'सुधातृ' शब्द के 'ऋ' के स्थान पर 'अकङ्' आदेश हुआ है जो अण् न होने के कारण रपर नहीं होता है।

अलोऽन्त्यस्य ॥५२॥

षष्ठीनिर्दिष्टस्य य उच्यते आदेशः सोऽन्त्यस्यालः स्थाने वेदितव्यः। "इन्द्रगोण्याः" (अ० सू० १।२।५०) पञ्चगोणिः दशगोणिः।

वृत्यर्थ—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट के स्थान पर जो आदेश होता है, वह अन्तिम 'अल्' के स्थान में होता है। जैसे 'इद् गोण्याः' से पञ्चगोणि तथा दशगोणि रूप बनते हैं।

व्याख्या -'षष्ठी स्थाने योगा' सूत्र से षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट पद के स्थान पर आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र नियम बनाता है कि वह आदेश उस षष्ठ्यन्त पद के अन्तिम 'अल्' के स्थान पर होगा अन्यत्र नहीं। यथा—'इद् गोण्याः' सूत्र से 'गोणी' शब्द को इकार का विधान किया गया है। इस सूत्रानुसार वह इकार गोणी के 'ई' के स्थान में ही होता है।

पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः—पञ्चगोणिः।

पञ्च + भिस्, गोणी + भिस्।

तद्धितार्थोत्तर पदसमाहारे च से समास।

सुपोधातुप्रातिपदिकयोः—पञ्च गोणी।

तेन क्रीतम्, प्राग्वहतेष्ठक्—पञ्चगोणी + ठक्

अर्ध्यपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्—पञ्चगोणी।

इद् गोण्याः—पञ्चगोणि—पञ्चगोणिः।

ङिच्च ॥५३॥

ङिच्च य आदेशः सोऽनेकालपि अलोऽन्त्यस्य भवति। "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" (अ० सू० ६।३।२५)। होतापोतारौ, मातापितरौ। तातङि ङित्करणादयं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थत्वात्सर्वादेशस्तातङ् भवति। जीवताद्भवान्, जीवतात्त्वम्।

वृत्त्यर्थ—ङित् आदेश अनेकाल् होने पर भी अन्तिम 'अल्' के स्थान पर होता है। जेसे—'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे से होने वाला 'आनङ्' आदेश अन्तिम 'अल्' को होकर होतापोतारौ, मातापितरौ रूप बनते हैं। तातङ् को ङित् करने का प्रयोजन गुण-वृद्धि का प्रतिषेध है। अतः वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

यथा—जीवताद् भवान्। जीवतात्त्वम्।

व्याख्या—अगले सूत्र ५५ के अनुसार अनेकाल आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है, वह ङित् आदेश अनेकाल होने पर भी अन्तिम अल् के स्थान पर ही होगा, सम्पूर्ण स्थानी को नहीं। यथा—

होतापोतारौ—होता च पोता च। मातापितरौ—माता च पिता च।

होतृ + सु, पोतृ + सु	मातृ + सु, पितृ + सु
चार्थे द्वन्द्व से समास	
सुपोधातु० होतृ पोतृ	मातृ पितृ
आनङ् ऋतो०—होत् आनङ् पोतृ	मात् आनङ् पितृ
=होत् + आन् पोतृ	मात् + आन् पितृ

न लोपः प्रातिपदि०—होतापोतृ	माता पितृ
ङ्याप् प्राति०—होतापोतृ औ	माता पितृ औ
ऋतोङि सर्वनाम०—होतापोतर् औ	मातापितर् औ
अप् तृन्तृच्०—होतापोतारौ	(दीर्घ नहीं होगा) माता पितरौ

इन उदाहरणों में आनङ् आदेश ङित् होने के कारण अन्तिम अल् 'ऋ' के स्थान पर हुआ है।

'तातङ्' आदेश भी ङित् है। अतः यह भी सम्पूर्ण स्थानी को होना चाहिए किन्तु 'तातङ्' को ङित् करने का प्रयोजन गुण-वृद्धि का निषेध करना हैं। अतः वह ङित् होने पर भी सम्पूर्ण स्थानी को होता है, अन्तिम अल् को नहीं।

जीवाताद् भवान्
जीव् + शप् + तिप् (लोट्)
जीव् + अ + ति
एरुः—जीव तु
तुह्योस्तातङ्०—जीव तातङ्—जीवतात्

यहां सम्पूर्ण स्थानी 'तु' के स्थान पर तातङ् हुआ है।

आदेः परस्य ॥५४॥

परस्य कार्यं शिष्यमाणमादेरलः प्रत्येतव्यम्। क्व च परस्य कार्यं शिष्यते। यत्र पञ्चमीनिर्देशः। तद्यथा "ईदासः" (अ० सू० ६।३।९७)। द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम्।

वृत्यर्थ—पर के स्थान पर विधान किया जाता हुआ कार्य उसके आदि अल् के स्थान पर जानना चाहिए। पर को कार्य कहां होता है? जहां पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट होता है। जैसे—'ईदासः' सूत्र से आसीनः' बनता है तथा 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' से द्वीपम्, समीपम्, अन्तरीपम् रूप बनते हैं।

व्याख्या—आसीनः
आस् + शानच् (आन)
ईदासः—आस् + ई न
आसीन—

आसीन + सु = आसीनः।

द्वीपम्—समीपम्—अन्तरीपम्।
द्वि + अप्
द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यो०—द्वि + ईप्
ऋक्पूरब्धूः—द्वि + ईन् + अ
— द्वीप
द्वीप + सु = द्वीपम्।
इसी प्रकार—अन्तर + अप् = अन्तरीपम्
सम् + अप् = समीपम्

यहां 'ईदासः' सूत्र में 'आसः' में पञ्चमी विभक्ति है। इसका अर्थ है कि 'आस्' शब्द के उत्तर में कार्य हो। यह कार्य (इकारादेश) शानच् के

आदि भाग (आ) के स्थान पर हुआ है। इसी प्रकार ह्यन्तरूप० सूत्र द्वारा 'द्वि' अन्तर' आदि शब्दों से परे 'अप्' को ईकारादेश किया है। वह आदेश 'अप्' के आदि भाग 'अ' के स्थान में हुआ है।

अनेकाल् शित् सर्वस्य ।।५५।।

अनेकाल् य आदेशः शिच्च स सर्वस्य षष्ठी निर्दिष्टस्य भवति। 'अस्तेर्भूः' (अ० सू० २।४।५२) भविता, भवितव्यम्। शित् खल्वपि 'जश्शसोः शिः' (अ० सू० ७।१।२०) कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य।

वृत्त्यर्थ—जो आदेश अनेकाल् होता है तथा 'शित्' होता है, यह सम्पूर्ण षष्ठी निर्दिष्ट के स्थान पर होता है, अनेकाल् के उदाहरण—अस्तेर्भूः—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। शित् के उदाहरण—जश्शशोः शि—कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य हैं।

व्याख्या—जिस आदेश में अनेक अल् होते हैं, वह अनेकाल कहलाता है। यथा—√अस् को 'भू' आदेश का विधान किया गया है। 'भू' अनेकाल है अतः सम्पूर्ण √अस् के स्थान पर होता है। जिसका 'श' इत् संज्ञक होता है, वह शित् कहलाता है। 'कुण्डानि' में 'जस्' तथा 'शस्' के स्थान में 'शि' आदेश किया गया है। 'शि' शित् होने के कारण सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान में होता है।

भविता—
अस्+तृच्
अस्तेर्भूः—भू+तृ
आर्ध धातु० भू+इट्+तृ
सार्वधातुका०—भो+इ+तृ
एचोऽयवायावः—भव्+इ+तृ
भवितृ+सु=भविता

भवितुम्, भवितव्यम्
अस्+तुमुन् अस्+तव्य
भू+तुम् भू+तव्य
भू+इट्+तुम् भू+इट्+तव्य
गुण—अवादेश होकर भवितुम्
तथा भवितव्यम् बनेंगे।

स्थानि वदादेशोऽनल्विधौ ।।५६।।

स्थान्यादेशयोः पृथक्त्वात् स्थान्याश्रयं कार्यमादेशे न प्राप्नोतीत्ययमतिदेश आरभ्यते। स्थानिना तुल्यं वर्त्तत इति स्थानिवत्। स्थानिवदादेश भवति स्थान्याश्रयेषु कार्येष्वनलाश्रयेषु स्थान्यलाश्रयाणि कार्याणि वर्ज्जयित्वा। अनल्विधिरनेकाल्विधिरित्यर्थः। किमुदाहरणम्, धात्वङ्गकृत्तद्धिताव्ययसुप्तिङ्पदादेशाः। धात्वादेशो धातुवद्भवति, "अस्तेर्भूः" (अ० सू० २।४।५२)। "ब्रुवो वचि" (अ० सू० २।४।५३)। आर्धधातुकविषये प्रागेवादेशेषु कृतेषु धातोरिति तव्यादयो भवन्ति। भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। अङ्गादेशोऽङ्गवद्भवति, केन, काभ्याम्, कैः। किमः कादेशे कृतेऽङ्गाश्रयाः इनदीर्घत्वैस्भावा भवन्ति। कृदादेशः कृद्वद्भवति,

प्रकृत्य, प्रहृत्य। ल्यबादेशे कृते "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इति तुग्भवति। तद्धितादेशस्तद्धितवद्भवति, दाधिकम्, अद्यतनम्। "कृत्तद्धितसमासाश्च" (अ० सू० १।२।४६) इति प्रातिपदिकसंज्ञा भवति। अव्ययादेशोऽव्ययवद्भवति, प्रस्तुत्य, प्रहृत्य, उपस्तुत्यः। "अव्ययात्" (अ० सू० २।४।८२) इति सुब्लुग् भवति। सुबादेशः सुब्वद्भवति, वृक्षाय, प्लक्षाय। "सुपि च" (अ० सू० ७।३।१०२) इति दीर्घत्वं भवति। तिङादेशस्तिङ्वद्भवति। अकुरुताम्, अकुरुतम्। "सुप्तिङन्तं पदम्" (अ० सू० १।४।१४) इति पदसंज्ञा भवति। पदादेशः पदवद्भवति ग्रामो वः स्वम्, जनपदो नः स्वम्। "पदस्य" इति रुत्वं भवति। वत्करणं किम्, स्थानी आदेशस्य संज्ञा मा विज्ञायीति। स्वाश्रयमपि यथा स्यात्। आङो यमहनः" (अ० सू० १।३।२८) आहत, आवधिष्ट, स्थानिवद्भावो यथा स्यात्, पचतु, "एरु" (अ० सू० ३,४।८६)। अनल्वि-'धाविति, किम्, द्युपथिपदादेशा न स्थानिवद्भवन्ति, द्यौः, पन्थाः, स इति। 'हल्ङ्याब्" (अ० सू० ६।१।६८) सुलोपो न भवति।

वृत्त्यर्थ—स्थानी तथा आदेश के पृथक् पृथक् होने के कारण स्थानी के कार्य आदेश को प्राप्त नहीं होते हैं, इसलिए यह अतिदेश प्रारम्भ किया जाता है। स्थानी के समान है, यही 'स्थानीवत्' का अभिप्राय हैं। स्थानी के आश्रय से अनलाश्रित कार्य करने में आदेश स्थानी के समान होता है, स्थानी के आश्रित कार्योंको छोड़कर। जो 'अल्' से सम्बन्धित विधि न हो उसे अनल्विधि कहते हैं। इसके उदाहरण—धातु-अङ्ग-कृत्-तद्धित-अव्यय-सुप्-तिङ तथा पदादेश हैं। धातु के स्थान पर होने वाला आदेश धातु के समान होता है। जैसे—अस्तेर्भू तथा ब्रुवो वचि सूत्रों से आर्धधातुक प्रत्यय के विषय में, प्रत्यय आने से पूर्व ही √अस् तथा √ब्रू के स्थान में क्रमशः 'भू' तथा 'वच्' आदेश होकर भव्यत, वक्तव्यम्' रूप सिद्ध होते हैं। अङ्ग के स्थान पर होने वाला आदेश अङ्ग के समान होता है। जैसे—'केन, काभ्याम्, कैः' यहां पर 'किमः कः' सूत्र से 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश करने पर अङ्ग के आश्रय से 'इन' 'दीर्घत्व' तथा 'ऐस्' हो जाते हैं। कृत् के स्थान पर पर होने वाला आदेश कृत् के समान होता है। जैसे—'प्रकृत्य, प्रहृत्य' यहां पर क्त्वा को ल्यप् करने के उपरान्त 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से तुगागम हो जाता है। तद्धित का आदेश तद्धित के समान होता है। जैसे—'दाधिकम्, अद्यतनम्' यहां पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है। अव्यय के स्थान पर होने वाला आदेश अव्यय के समान होता है। जैसे—प्रस्तुत, उपस्तुत्य' यहां पर 'अव्ययादाप्सुपः' से सुप् का लुक् हो जाता है। सुप् के स्थान पर होने वाला आदेश सुप् के समान हो जाता है। जैसे—'वृक्षाय, प्लक्षाय'

में सुपि च से दीर्घ हो जाता है। तिङ् के स्थान में होने वाला आदेश तिङ् के समान होता है। जैसे—अकुरुताम्, अकुरुतम्' में 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पद संज्ञा हो जाती है। पद के स्थान पर होने वाला आदेश पद के समान होता है। जैसे—'ग्रामो वः स्वम्, ग्रामो नः स्वम्' में पद संज्ञा होने से रुत्व विसर्ग आदि कार्य हो जाते हैं।

'स्थानिवत्' यहाँ पर वत् (वतुप्) प्रत्यय इसलिए लगाया है कि जिससे स्थानी को आदेश की संज्ञा न जान लिया जाए। स्थानी के आश्रय से भी कार्य हो जाया करें। जैसे—'आहत' में 'हन्' धातु से तथा 'आवधिष्ट' में 'हन्' के स्थान पर वधादेश होने पर भी दोनों अवस्थाओं में 'आङो यमहनः' सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है। आदेश का ग्रहण इसलिए किया है कि जिससे आनुमानिक आदेश भी स्थानिवत् हो जाए। जैसे—'पचतु' में 'एरुः' से होने वाले उकार की भी तिङ् संज्ञा हो जाती है। अनल्विधि इसलिए कहा है कि 'द्यौः, पन्थाः, सः' यहाँ पर 'हलङ्याब्भ्यो०' सूत्र से सुलोप नहीं होता।

व्याख्या—जिसके स्थान पर कोई आये, उसे स्थानी कहते हैं तथा आने वाले को आदेश कहते हैं। स्थानी तथा आदेश दोनों पृथक् पृथक् संज्ञाएं हैं। अतः स्थानी को कहा गया कार्य आदेश को प्राप्त नहीं होता। स्थानी के कार्य आदेश को प्राप्त कराने के लिए यह अतिदेश प्रारम्भ किया जाता है। अतिदेश छः प्रकार के होते हैं—(१) निमित्तादेश (२) व्यपदेशातिदेश (३) शास्त्रातिदेश (४) रूपातिदेश (५) कार्यातिदेश तथा (६) तादात्म्यातिदेश। यहां पर कार्यातिदेश का विधान किया गया है। इसके उदाहरण—धातु, अङ्ग, कृत्, तद्धित, अव्यय, सुप्, तिङ् तथा पदादेश हैं। जैसे—

२. धात्वादेश—'अस्तेर्भूः' सूत्र का अर्थ है कि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर √अस् के स्थान पर 'भू' हो जाए। 'अस्' तो धातु है किन्तु 'भू' धातु नहीं हैं। स्थानिवत् होने के कारण 'भू' को भी स्थानी के समान कार्य हो जाते हैं। 'धातोः' सूत्र द्वारा धातुमात्र से तव्यादि प्रत्ययों का विधान किया गया है। 'भू' को स्थानिवत् मान कर इससे भी तव्यादि होकर 'भवितव्यम्' आदि रूप बनते हैं। इसी प्रकार 'ब्रुवो वचि' से होने वाले √ब्रू के स्थान पर 'वच्' के विषय में समझना चाहिए। आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर ही √अस् को 'भू' तथा √ब्रू को 'वच्' आदेश विहित हैं। किन्तु यहां पर आर्धधातुक प्रत्यय आने से पूर्व ही आर्धधातुक प्रत्यय के विषय में अर्थात् यह मानकर कि इनसे आर्धधातुक प्रत्यय आयेगा, 'भू' तथा 'वच्' आदेश होकर इनसे तव्यादि प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार भविता, भवितुम्, भवितव्यम् तथा वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् रूप बन जाते हैं।

२. अङ्गादेश—अङ्ग के स्थान पर होने वाला आदेश अङ्ग के समान होता है। 'किम्+टा' इस अवस्था में 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्यये ऽङ्गम्' सूत्र द्वारा 'किम्' की 'अङ्ग' संज्ञा होती है।' 'किमः कः' सूत्र से 'किम्' के स्थान पर होने वाला 'क' आदेश भी स्थानिवत् भाव से 'अङ्ग' बन जाता है। 'क' को अङ्ग मानकर अङ्ग के आश्रित इन, दीर्घत्व तथा ऐस् भाव हो जाते हैं। यथा—

केन—किम्+टा
किमः कः—क+टा
टाङसिङसाम्०—क+इन
आद्गुणः—केन
कैः=किम्+भिस्
किमः कः—क+भिस्
अतोभिस ऐस्—क+ऐस्
वृद्धिरेचि—कैस्—कैः

काभ्याम्
किम्+भ्याम्
किमः कः—क+भ्याम्
सुपि च—काभ्याम्

२. कृदादेश—'कृत्' के स्थान पर होने वाला आदेश कृत् के समान होता है। प्रकृत्य, प्रहृत्य में 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' हुआ है। क्त्वा प्रत्यय कृत् संज्ञक है। अतः 'ल्यप्' भी 'कृत्' बन जाता है जिससे 'कृत्' के आश्रय से होने वाला तुगागम हो जाता है।

प्रकृत्य
प्र+कृ+क्त्वा
समासेऽनञ्पूर्वे०—प्र+कृ+ल्यप्
ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्—प्र+कृ+तुक्+ल्यप्
प्र+कृ+त्+य=प्रकृत्य।

इसी प्रकार प्र+हृ+क्त्वा से प्रहृत्य बनेगा।

३. तद्धितादेश—तद्धित के स्थान पर होने वाला आदेश तद्धित के समान होता है—

दाधिकम्
तेन संस्कृतम्, दध्नस्ठक्—दधि+ठक् (ठ)
ठस्येकः—दधि+इक
यस्येति च—दध्+इक
किति च—दाधिक
कृत्तद्धितसमासाश्च
दाधिक+सु=दाधिकम्

अद्यतनम्
सायंचिरम्०—अद्य+तुट्+ट्यु (यु)
युवोरनाकौ—अद्य+त्+अन
कृत्तद्धित समासाश्च
अद्यतन+सु=अद्यतनम्

यहां पर ठक् तथा ट्यु प्रत्यय तद्धित संज्ञक थे। स्थानिवद्भाव से इनके स्थान पर आने वाले इक् तथा अन भी तद्धित बन जाते हैं। जिस कारण 'कृत्तद्धित

समासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि विभक्तियां आ जाती हैं।

४. अव्ययादेश—अव्यय के स्थान पर आने वाला आदेश अव्यय के समान होता है। 'प्रकृत्य, प्रहृत्य, उपस्तुत्य' में 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश हुआ है (देखें सिद्धि न० २) 'क्त्वातोसुन्कसुनः' सूत्र से क्त्वा प्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा होती है। 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' होकर ल्यबन्त की भी अव्यय संज्ञा बन जाती है जिससे 'अव्ययादाप्सुपः' से विभक्ति लोप हो जाता है।

५. सुबादेश—सुप् के स्थान पर होने वाला आदेश सुप् के समान होता है।

वृक्षाय	प्लक्षाय
वृक्ष+ङे	प्लक्ष+ङे
ङेर्यः—वृक्ष+य	ङेर्यः—प्लक्ष+य
सुपि च—वृक्षाय	सुपि च—प्लक्षा+य

यहां पर 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश हुआ है। 'ङे' सुप् था अतः 'य' भी 'सुप्' बन जाता है। जिससे 'सुपि च' से दीर्घ हो गया।

६. तिङादेश—तिङ् के स्थान पर होने वाला यादेश तिङ्वत् होता है।

अकुरुताम्	अकुरुतम्
कृ+तस् (लङ)	कृ+थस्
तस्थस्थमिपां०---कृ+ताम्	कृ+तम्
तनादिकृञ्भ्य उः—अट्+कृ+उ+ताम्	अट्+कृ+उ+तम्
सार्वधातुकार्ध०— अ+कर्+उ+ताम्	अ+कृ+उत+म्
अत उत् सर्वधातुके—अकुर् उ ताम्=अकुरुताम्	अ+कर्+उ+तम्
	अकुर् उ तम्=अकुरुतम्

यहां पर 'तस्' तथा 'थस्' प्रत्यय तिङ थे। इनके स्थान पर होने वाले 'ताम्' तथा 'तम्' भी स्थानिवद् भाव से तिङ् बन जाते हैं। जिससे 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पद संज्ञा बन जाती है।

७. पदादेश—पद के स्थान पर होने वाला आदेश पद के समान होता है। जैसे—'ग्रामो वः स्वम्' 'जनपदो नः स्वम्' में षष्ठी विभक्त्यन्त 'युष्माकम्' तथा 'अस्माकम्' के स्थान पर 'बहुवचनस्य वस्नसौ' सूत्र से क्रमशः वस्, नस् आदेश हुये हैं। स्थानिवत् होने से 'वस्, नस्' की भी पद संज्ञा हो गई। पद संज्ञा होने से रुत्व' विसर्ग होकर 'वः, नः' बने हैं।

'स्थानिवत्' में 'वत्' का ग्रहण इसलिए किया गया है कि स्थानी को आदेश की संज्ञा न माना जाए। यदि संज्ञा मान लिया जायेगा तो तब स्थानी

को कोई कार्य न हो पायेंगे, क्योंकि वे सब कार्य तो आदेश को हुआ करेंगे आदेश संज्ञी बन जायेगा तथा स्थानी उसकी संज्ञा। संज्ञा को विहित कार्य संज्ञी को ही होते हैं। यथा गुण-वृद्धि को जो कार्य कहे जाते हैं, वे इनके संज्ञी वर्णों 'अ ए ओ, आ ऐ औ' को ही होते हैं। स्थानी को अपने आश्रय से भी कार्य हुआ करें इसीलिए सूत्र में वत्करण किया है। जैसे— आहन, आवधिष्ट।

आहन—आङ् + हन् + लुङ्
लुङ्लङ्लृक्ष्व०—अट् + आङ् हन् + लुङ्
आङो यमहनः—अ + आङ् + हन् + त
अनुदात्तोपदेश०—अ + आ + ह + त
च्लि लुङि, च्लेः सिच्—अ + आ + ह + सिच् + त
अकःसवर्णे०—आ + ह + स् + त
ह्रस्वादङ्गात्—आहत

आवधिष्ट— आङ् + हन् + लुङ्
अट् + आङ् + हन + लुङ्
आत्मनेपदेष्व०— अ + आ + वध + लुङ्
स्थानिवदादेश०— अ + आ + वध + त
च्लि लुङि, च्लेः सिच्—अ + आ + वध + सिच् + त
अतोलोपः—अ + आ + वध् +
आर्धधातुकस्येड्०— अ + आ वध् + इट् + सिच् + त
आ + वध् + इ + स् + त
आदेशप्रत्ययोः— आ + वध् + इ + ष् + त
ष्टुनाष्टुः—आ वध् इ + ष् ट = आवधिष्ट

यदि सूत्र में 'वत्' ग्रहण नहीं करेंगे तो स्थानी (हन्) संज्ञा बन जायेगा तथा आदेश (वध) उसका संज्ञी बनेगा। अब आदेश (वध) से ही आत्मने पद हुआ करेगा √हन से नहीं। 'वत्' ग्रहण करने से दोनों से आत्मनेपद हो जाता है। 'वध' आदेश अकारान्त हैं। 'अतोलोपः' से अकार लोप होने पर अकार लोप के स्थानिवत् होने के कारण 'अतोहलादेर्लघोः' से उपधा वृद्धि भी नहीं होती।

सूत्र में आदेश का ग्रहण इलिए किया है कि आनुमानिक अर्थात् अर्धादेश को भी स्थानिवद्भाव हो जाए। यथा—

पच् + शप् + तिप्
पच् + अ + ति
एरुः—पच् + अ + तु = पचतु

यहां पर सम्पूर्ण 'ति' के स्थान पर 'तु' नहीं हुआ है किन्तु 'इ' के स्थान पर 'उ' हुआ है। यह अर्धादेश है। स्थानिवद्भाव से 'तु' की तिङ् संज्ञा होने से 'पचतु' की पद संज्ञा हो जाती है।

सूत्र में 'अनल्विधौ' इसलिए कहा है कि अल्विधि में आदेश स्थानिवत् न हो। यथा—द्यौः, पन्थाः, सः

द्यौः—दिव्+सु
दिव औत्—दि औ+सु
इकोयणचि—द्यौ+स=द्यौः
सः—तद्+सु
त्यदादीनाम:—त+सु
तदोः सः सावनन्त्ययोः—स+स्=सः

पन्थाः—पथिन्+सु
पथिमथ्यृ०—पथि आ++स्
इतोऽत्०—पथ् अ आ+स्
थोन्थः—पन्थ अ आ+स्
पन्था+स्=पन्थाः

यहाँ पर 'द्यौ' में 'व्' के स्थान में औकारादेश, 'पन्थाः' में 'न्' के स्थान में आकारादेश तथा 'सः' में 'द्' के स्थान में अकारादेश हुआ है। अल्विधि होने के कारण इसके स्थानिवत् न होने से 'हलङ्याब्०' से सुलोप नहीं होता।

अचः परस्मिन्पूर्वविधौ ॥५७॥

पूर्वेणानल्विधौ स्थानिवद्भाव उक्तः। अल्विध्यर्थमिदमारभ्यते। आदेशः स्थानिवदिति वर्त्तते। अच इति स्थानिनिर्देशः। परस्मिन्निति निमित्त-सप्तमी। पूर्वविधाविति विषयसप्तमी। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद्भवति, पटयति, अवधीत्, बहुखट्वकः। पटुमाचष्ट इति णिचि टि लोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् "अत उपधायाः" (अ० सू० ७।२,११६) इति वृद्धिर्न भवति। अवधीत् अतोलोपस्य स्थानिवद्भावाद् "अतो हलादेर्लघोः" (अ० सू० ७।२।७) इति हलन्तलक्षणा वृद्धिर्न भवति। बहुखट्वक इति। आपोऽन्यतरस्याम्" (अ० सू० ७।४।१५) इति ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावाद् "ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम्" इति स्वरो न भवति। अच इति किम्, प्रश्नः, अक्ष्टाम्, आगत्य। प्रश्न इति प्रच्छेर्नङ्प्रत्यये "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" (अ० सू० ६।४।१९) इति छकारस्य शकारः परनिमित्तकस्तुकि कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। अक्राष्टामिति, झलो झलि" (अ० सू० ८।२।२६) इति सिचो लोपः परनिमित्तकः कृषेः षकारस्य "षढोः कः सि" (अ० सू० ८,२।४१) इति ककारे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। आगत्येति "वा ल्यपि" (अ० सू० ६।४।३८) इति अनुनासिकलोपः परनिमित्तकस्तुकि कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। परस्मिन्निति किम्, युवजानिः वधूटीजानिः, वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये। युवजानिरिति जायाया निङ् ५।४।१३४) न परनिमितकस्तेन यलोपे न स्थानिवद्भवति। वैयाघ्रपदः इति न परनिमित्तकः पादस्यान्तलोपः पद्भावं न प्रतिबध्नाति। आदीध्ये इति दीधीङ उत्तमपुरुषैकवचनेटेरेत्वस्यापरनिमित्तकत्वाद् "यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः" (अ० सू० ७।४।५३) इति लोपो न भवति। पूर्वविधाविति किम्, हे गौः

बाभ्रवीयाः, नैधेयः । हे गौरिति वृद्धिरजादेशः सम्बुद्धिलोपे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति । बाभ्रवीया इति बाभ्रव्यस्यामी छात्रा इति, "वृद्धाच्छ" (अ० सू० ४।२।१४) इति छः । "हलस्तद्धितस्य" (अ० सू० ३।४।१५०) इति यकारलोपे कर्त्तव्ये, अवादेशो न स्थानिवद्भवति । नैधेयः । "आतो लोप इटि च" (अ० सू० ६।४।६४) । इत्याकारलोपः, "इतश्चानिञ्" (अ० सू० ४।१।१२२) इति द्व्यज्लक्षणे प्रत्ययविधौ न स्थानिवद्भवति ।

वृत्यर्थ—इससे पूर्व सूत्र द्वारा अनल्विधि में स्थानिवद् भाव का विधान किया गया है । इस सूत्र का आरम्भ अल्विधि के लिए किया जाता है । 'आदेश' तथा 'स्थानी' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से आ रही है । 'अच०' यह पद स्थानी के निर्देश के लिए है । 'परस्मिन्' शब्द में निमित्त सप्तमी है । 'पूर्वविधौ' यह विषयसप्तमी है । पूर्वविधि करने में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् होता है । जैसे—पटयति, अवधीत्, बहुखट्वकः । पटुमाचष्टे—पटु को कहता है, इस अर्थ में णिच्, तथा टिलोप करने पर लोप के स्थानिवत् होने से पटयति में 'अत उपधायाः' से वृद्धि नहीं होती । 'अवधीत्' में आकार लोप के स्थानिवत् होने से 'अतो हलादेर्लघोः' से हलन्तलक्षण वाली वृद्धि नहीं होती । 'बहुखट्वकः' में 'आपोऽन्यतरस्याम्' से किये गये ह्रस्व के स्थानिवत् होने 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' सूत्र से स्वर नहीं होता ।

'अचः' इसलिए कहा है कि प्रश्नः, अक्राष्टाम्, आगत्य । 'प्रश्नः' यहां पर √प्रच्छ से 'नङ्' करने पर 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से होने वाला छकार को शकार परनिमित्तक है । वह 'तुक्' करने में स्थानिवत् नहीं होता । अक्राष्टाम् में 'झलो झलि' से होने वाला 'सिच्' का लोप परनिमित्तक है । √कृष् के षकार को 'षढोः' कः सि' से ककार करने में वह स्थानिवत् नहीं होता । आगत्य में 'वाल्यपि' से होने वाला अनुनासिक लोप परनिमित्तक है वह 'तुक्' करने में स्थानिवत् नहीं होता ।

परस्मिन् इस लिए कहा है कि युवजानिः, वधूटीजानि, वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये में आदेश स्थानिवत् नहीं होता । युवजानि में 'जायाया निङ्' से होने वाला निङ् परनिमित्तक नहीं है । अतः यकार का लोप करने में स्थानिवत् नहीं होता वैयाघ्रपद्यः में 'पाद' के अन्त का लोप परनिमित्तक नहीं है । अतः वह 'पाद' को 'पद्' करने में बाधक नहीं बनता । आदीध्ये में √दीधीङ् के उत्तम पुरुष एकवचन के स्थान में 'टि' के स्थान पर होने वाले एत्व के परनिमित्तक न होने से 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' से लोप नहीं होता । 'पूर्वविधौ' यह इसलिए कहा है कि हे गौः, बाभ्रवीयाः, नैधेयः में आदेश स्थानिवत् नहीं होता है । 'हे गौः' में वृद्धि अजादेश सम्बुद्धि लोप के करने में स्थानिवत् नहीं होता । बाभ्रवीयाः यहां पर 'बाभ्रव्य के ये छात्र हैं' इस अर्थ में 'वृद्धाच्छः'

से 'छ' प्रत्यय हुआ । 'हलस्तद्धितस्य' से यकार लोप करने में अवादेश स्थानिवत् नहीं होता है। नैचयः में 'आतोलोप इटि च' से आकार लोप होकर वह 'इतश्चानिजः' सूत्र से विहित द्वचच् लक्षण प्रत्ययविधि में स्थानिवत् नहीं होता ।

व्याख्या—पूर्व सूत्र अनल्विधि में स्थानिवद् भाव करता है । अल्विधि में स्थानिवद्भाव के लिए इस सूत्र का प्रारम्भ किया है। पर को निमित्त मानकर किया गया अजादेश पूर्वविधि करने में स्थानिवत् होता है। यथा—पटयति, अवधीत्, बहुखट्वकः ।

पटयति—पट+णिच्+तिप्

अतो लोपः—पट्+इ+ति

कर्तरि शप्—पटि+शप्+ति

पटि+अ+ति

सार्वधातुका०—पटे+अ+ति

एचोऽयवायावः—पटय्+अ+ति—पटयति ।

यहाँ पर णिच् को मानकर 'पट्' में अकार लोप हुआ है । अकारलोप होकर 'अत उपधायाः' से वृद्धि प्राप्त है। यह पूर्वविधि है। अकार लोप के स्थानिवत् होने से उपधा वृद्धि नहीं होती ।

अवधीत्—हन्+लुङ्

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व० अट्+हन्+तिप् ति

इतश्च अ+हन्+त्

लुङि च—अ+वध+त्

च्लि लुङि, च्लेः सिच्—अ+वध+सिच्+त्

अतो लोपः—अ+वध्+स्+त्

आर्धधातुकस्येड्—अ+वध्+इट्+स्+त्

अस्तिसिचोऽपृक्ते—अ+वध्+इ+स्+ईट्+त्

इट ईटि—अ+वध्+इ+ई+त्=अवधीत् ।

यहाँ पर 'सिच्' को निमित्त मानकर 'वध' के अकार का लोप हुआ है। अकार लोप के स्थानिवत् होने से 'अतो हलादेर्लघोः' से होने वाली वृद्धि नहीं होती। यह पूर्वविधि है।

बहुखट्वकः—बह्यः खट्वा अस्मिन् सः ।

वहु+जस् खट्वा जस् (अनेकमन्यपदार्थे से समास)

सुपो धातु०—बहु खट्वा

शेषाद् विभाषा—बहु खट्वा+कप्

आपोऽन्यतरस्याम्—बहुखट्व क

बहुखट्वक+सु=बहुखट्वकः ।

यहाँ पर 'खट्वा' के 'आ' के स्थान पर ह्रस्व 'अ' आदेश हुआ है। इसे स्थानिवत् मानने से 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' सूत्र से 'ख' के 'अ' को उदात्त नहीं होता है।

१. **अजादेश**—'अच्' के स्थान पर होने वाला आदेश ही स्थानिवत् होता है, हल् के स्थान पर होने वाला नहीं। यथा—

प्रश्नः—√प्रच्छ्
यजयाचयत०—प्रच्छ्+नङ्
च्छ्वोः शूडनु०—प्रश्+न
प्रश्न+सु=प्रश्नः
आगत्य—
आङ्+गम्+क्त्वा
समासेऽनञ्० आगम्+ल्यप्
वा ल्यपि—आग+य
ह्रस्वस्य पिति०—आग+तुक्+य
आग+त्+य=आगत्य

अक्राष्टाम्—√कृष्+तस् (लङ्)
लुङ्लङ्लृङ्०—अट्+कृष्+तस्
तस्थस्थ०—अ+कृष्+ताम्
स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्ले सिज्वा वक्तव्यः
—अ+कृष्+सिच्+ताम्
अनुदात्तस्य च० अ+कृ+अम्ष्+स्+ताम्
इको यणचि—अ क्र+ष्+स्+ताम्
वदव्रजहलन्तस्याचः— अ क्रा ष्+स्+ताम्
झलोझलि—अ क्राष्+ताम्
ष्टुनाष्टुः—अक्राष्टाम्

यहाँ पर 'प्रश्नः' में 'च्छ्' के स्थान में 'श्' आदेश हुआ है। यह अजादेश नहीं हैं। अतः इसके स्थानिवत् न होने से 'छे च' से 'तुक्' का आगम नहीं होता है। 'आगत्य' में भी 'ल्यप्' को निमित्त मानकर 'म्' का लोप हुआ है। इसके स्थानिवत् न होने से यहाँ भी 'तुक्' का आगम नहीं होता। अक्राष्टाम् में 'ताम्' को निमित्त मानकर सिच् का लोप हुआ है। अजादेश न होने से यह स्थानिवत् नहीं होता। इससे 'षढोः कः सि' से षकार को ककार नहीं होता।

२. **परस्मिन्**—पर को निमित्त मानकर होने वाला अजादेश ही पूर्वविधि करने में स्थानिवत् होता है, अन्य नहीं। यथा—

युवजानिः—युवतिः जाया यस्य सः
युवति+सु जाया+सु
अनेकमन्यपदार्थे से समास
सुपोधातु० युवति जाया
स्त्रियाः पुंवद्०—युव जाया

आदीध्ये—आङ्+दीधीङ्
आ+दीधी+इट् (लट्)
टित आत्मने० आ+दीधी+ए
इकोयणचि—आदीध्य्+ए
आदीध्ये

जायाया निङ्—युव जाय् निङ्

लोपो व्यो०—युव जानि

युव जानि+सु=युवजानिः

यहाँ पर 'युवजानि' में जाया के आकार के स्थान पर 'निङ्' किसी को निमित्त मानकर नहीं हुआ है। अतः परनिमित्तक नहीं है। उसके स्थानिवत् न होने से 'य्' का लोप हो जाता है। इसी प्रकार वधूटी जाया यस्य स वधूटीजानिः।

आदीध्ये में इकार के स्थान पर होने वाला एकारादेश परनिमित्तक नहीं है। उसके स्थानिवत् न होने से 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' से 'धी' के ईकार का लोप नहीं होता।

वैयाघ्रपद्यः—व्याघ्रस्येव पादौ यस्य स व्याघ्रपाद्।

व्याघ्रपादोऽपत्यं वैयाघ्रपद्यः

व्याघ्र+पाद

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः—व्याघ्रपाद्

गर्गादिभ्यो यञ्—व्याघ्रपाद्+यञ्

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्—व् ऐच् या घ्र पाद्+य वैयाघ्रपाद्+य

पादः पत्—वैयाघ्रपत्+य

झलां जशोऽन्ते—वैयाघ्रपद्+य=वैयाघ्रपद्य

यहाँ पर 'पाद' में दकारस्थ अकार का लोप हुआ है जो परनिमित्तक नहीं है। उसके स्थानिवत् न होने से पाद के स्थान पर पत् आदेश हो जाता है।

पूर्वविधि—पूर्वविधि करने में ही परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् होता है, अन्यत्र नहीं। यथा—

हे गौः—गो+सु

गोतो णित् से 'सु' णित्वत् बना

अचोञ्णिति—गौ+स्=गौः

नैधेयः—नि+√धा

उपसर्गे घो किः—नि धा+कि

आतोलोप०—नि ध्+इ=निधि

इतश्चानिञः—निधि+ढक्

किति च—नैधि+ढ

आयनेयी०—नैधि+एय

यस्येति च—नैध्+एय—नैधेय

बाभ्रवीया—बभ्रोरपत्यं बाभ्रव्यः

बाभ्रव्यस्य छात्राः बाभ्रवीयाः

मधुबभ्रोर्ब्राह्मण०—बभ्रू+यञ्

ओर्गुणः—बभ्रो+य

वान्तो यि प्रत्यये—बभ्रव्+य

तद्धितेष्व०—बाभ्रव्य

वृद्धाच्छः—बाभ्रव्य+छ

आयनेयी०—बाभ्रव्य+ईय

यस्येति च—बाभ्रव्य्+ईय

हलस्तद्धितस्य—बाभ्रव्+ईय

बाभ्रवीय+जस्=बाभ्रवीयाः।

यहां पर 'गौ' में 'ओ' के स्थान पर होने वाली वृद्धि परनिमित्तक है। अजादेश भी है किन्तु यह स्थानिवत् नहीं होता। यदि यह स्थानिवत् हो जाए तो 'एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' सूत्र से सकार लोप हो जाएगा। यह परविधि है, पूर्वविधि नहीं। अतः अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है।

नैधेय में 'नि+धा+कि' इस अवस्था में होने वाला आकारलोप स्थानि-नहीं होता। यदि यह स्थानिवत् हो जाए तो इकारान्त शब्द न रहने से 'ठक्' प्रत्यय नहीं हो सकता। यह भी पूर्वविधि नहीं अपितु परविधि है।

बाभ्रवीया में बभ्रो के 'ओ' के स्थान पर होने वाला अवादेश परनिमित्तक है तथा अजादेश है किन्तु स्थानिवत्नहीं होता। इसके स्थानिवत् न होने से 'बाभ्रव्य् +ईय' इस अवस्था में यकार लोप हो जाता है। यह भी परविधि है।

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥५८॥

पूर्वेणातिप्रसक्त स्थानिवद्भाव एतेषु विधिषु प्रतिषिद्ध्यते। पदान्तविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति। कौ स्तः, यौ स्तः, तानि सन्ति, यानि सन्ति। "श्नसोरल्लोपः" (अ० सू० ६।४।१११) क्ङिति सार्वधातुक इति परनिमित्तकः स पूर्वविधावावादेशे यणादेशे च कर्त्तव्ये स्थानिवत्स्यात्। अस्माद्वचनान्न भवति। द्विर्वचनविधिं प्रति अजादेशोन स्थानिवद्भवति दद्ध्यत्र मद्ध्वत्र। यणादेशः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् "अनचि च" (अ० सू० ८।४।४७)। इति धकारस्य द्विर्वचनं न स्यादस्माद्वचनाद्भवति। वरे योऽजादेशः स पूर्वविधिं प्रति न स्थानिवद्भवति। अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्। यातेर्यङन्तात् "यश्च यङः" (अ० सू० ३।२।१७६) इति वरचि कृते, अतोलोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवत्त्वात् "आतो लोप इटि च" (अ० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपः स्यादस्माद्वचनान्न भवति। यलोप, यलोपविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति। कण्डूतिः। कण्डूयतेः क्तिचि कृतेऽतोलोपः परनिमित्तकः, "लोपो व्योर्वलि" (अ० सू० ६।१।६६) इति यलोपे स्थानिवत्स्यादस्माद्वचनान्न भवति। स्वर, स्वरविधिं प्रति अजादेशो न स्थानिवद्भवति, चिकीर्षकः, जिहीर्षकः। ण्वुलि कृतेऽतोलोपः परनिमित्तकोलिति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तमिति स्वरे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवतीति। सवर्ण, सवर्णविधिं प्रति अजादेशो न स्थानिवद्भवति। शिण्ढि, पिण्ढि। शिषे पिषेश्च लोण्मध्यमपुरुषैकवचने "रुधादिभ्यः श्नम्" (अ० सू० ३।१।७८) हित्वधित्वष्टुत्वजश्त्वेषु कृतेषु "श्नसोरल्लोपः" (अ० सू० ६।४।१११) क्ङिति सार्वधातुके परनिमित्तोऽनुस्वारस्य ययि परसवर्णे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। अनुस्वार, अनुस्वारविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति। शिंषन्ति पिंषन्ति। "नश्चापदान्तस्य झलि" (अ० सू० ८।३।२४) इति अनुस्वारे कर्त्तव्ये श्नसोरल्लोपो न स्थानिवद्भवति। दीर्घविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति। प्रतिदीव्ना,

प्रतिदीव्ने । प्रतिदिवन्नित्येतस्य "भस्य" (अ० सू० ६।४।१२९) । इत्यधिकृत्य तृतीयैकवचने चतुर्थ्येकवचने च, "अल्लोपोऽनः" (अ० सू० ६। १३४) इति अकारलोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् "हलि च" (अ० सू० ८।२।७७) । इति दीर्घत्वं न स्यात् । नह्ययं वकारो हल्पर इत्यस्माद्वचनाद्भवति । जश्, जश्विधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति । सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे, बब्धान्ते हरी धानाः । अदेः क्तिनि "बहुलं छन्दसि" (अ० सू० २।४।३९) इति घस्लादेशः "घसिभसोर्हलि च" (अ० सू० ६।४।१००) इत्युपधालोपः "झलो झलि" (अ० सू० ८।२।२६) । इति सकारलोपः "झषस्तथोर्धोऽधः" (अ० सू० ८।२।४०) इति धत्वम्, उपधालोपस्य स्थानिवत्त्वात् "झलां जश्झशि" (अ० सू० ८।४।५३) इति घकारस्य जश्त्वं न स्यादस्माद्वचनाद्भवति । समानाग्धिः, समानस्य सभावः, सग्धिः । बब्धामिति । भसेर्लोड्द्विचने शपः श्लुः, द्विर्वचनमभ्यासकार्यं, "घसिभसोर्हलि च" (अ० सू० ६।४।१००) इति उपधालोपः, "झलो झलि" (अ० सू० ८।४।५३) । इति जश्त्वं न स्यादस्माद्वचनाद्भवति । चर्, चर्विधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति । जक्षतुः, जक्षुः अक्षन्नमीमदन्त पितरः । लिड्द्विचनबहुवचनयोरदेर्घस्लादेशः, "गमहनजनखनघसाम्" (अ० सू० ६।४।९९) इत्युपधालोपः, द्विर्वचनम्, अभ्यासकार्यं, तत्रोपधालोपस्य स्थानिवत्त्वात्, "खरि च" (अ० सू० ८।४।५५) इति घकारस्य चर्त्वं न स्यादस्माद्वचनाद्भवति । "शासिवसिघसीनां च" (अ० सू० ८।३।६०) इति षत्वम् । अक्षन्नित्यदेर्लुङ्बहुवचने घस्लादेशश्च्लेरागतस्य, "मन्त्रे घसह्वर" (अ० सू० २।४।८०) इति लुक्, 'गमहनजनखनघसाम्" (अ० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपः । तस्य स्थानिवत्त्वात्, "खरि च" (अ० सू० ८।४।५५) इति चर्त्वं न स्यादस्माद्वचनाद्भवति । स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवद्भवति । अन्यत्र तु स्थानिवदेव । तेन बहुखट्वकः, किर्योः, गिर्योः वाय्वोरिति स्थानिवत्त्वात्, स्वरदीर्घयलोपा न भवन्ति ।

पूर्वसूत्र से अतिप्रसक्त स्थानिवद् भाव का पदान्त आदि विधियों में प्रतिषेध किया जाता है । पदान्त विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता । जैसे—'कौ स्तः । यौ स्तः, कानि सन्ति, यन्ति सन्ति' में 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर परनिमित्तक लोप अजादेश हुआ है, वह पूर्वविधि ('आव्' आदेश तथा 'यण' आदेश) करने में स्थानिवत् हो जाता । इस सूत्र के कारण नहीं होता है । द्विर्वचन के प्रति अजादेश स्थानिवद् नहीं होता । जैसे—दद्ध्यत्र मद्ध्वत्र' में यणादेश परनिमित्तक है । उसके स्थानिवत् होने से 'अनचि च' से धकार को द्वित्व नहीं हो पायेगा । इस सूत्र से स्थानिवत् का निषेध कर दिए जाने के कारण द्वित्व हो जाता है । 'वरच्' प्रत्यय परे रहने पर होने वाला अजादेश पूर्वविधि के प्रति स्थानिवत् नहीं होता है ।

जैसे—'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्' यहाँ पर यङन्त √या से 'यश्च यङ' सूत्र द्वारा 'वरच्' प्रत्यय करने पर परनिमित्तक आकार लोप होता है। उसके स्थानिवत् होने से 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप हो जाता। इस सूत्र के कारण नहीं होता है। यलोप विधि के प्रति लोप अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। जैसे—'कण्डूति' में √कण्डूञ् से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'अतो लोपः' से परनिमित्तक आकार लोप होता है। वह 'लोपो व्योर्वलि' से 'य्' का लोप करने में स्थानिवत् हो जाता। इस सूत्र से उसका निषेध होता है। जैसे—'चिकीर्षकः, जिहीर्षकः' यहाँ पर ण्वुल् प्रत्यय करने पर परनिमित्तक अकार लोप 'लिति' से उदात्त स्वर करने में स्थानिवत् नहीं होता। सवर्णविधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। जैसे—'शिण्ढि' पिण्डि' यहां √शिष् तथा √पिष् से लोट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन में 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम् तत्पश्चात् द्वित्व, धित्व, ष्टुत्व तथा जशत्व करने पर सार्वधातुक 'ङित्' प्रत्यय परे रहने पर 'श्नसोरल्लोपः' से होने वाला अकार लोप 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्णादेश करने में स्थानिवत् नहीं होता। अनुस्वार विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। जैसे—'शिंषन्ति पिंषन्ति' में 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार करने में 'श्नसोरल्लोपः' से किया गया अकारलोप स्थानिवत् नहीं होता। दीर्घविधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। जैसे—'प्रतिदीव्ना' प्रति-दीव्ने यहाँ पर 'प्रतिदिवन्' शब्द की 'भस्य' सूत्र से 'भ' संज्ञा करके तृतीया एक वचन तथा चतुर्थी एकवचन में 'अल्लोपोनः' से होने वाला अकार लोप परनिमित्तक है। उसके स्थानिवत् होने से 'हलि च' से दीर्घत्व प्राप्त नहीं होगा क्योंकि तब वकार से परे 'हल्' नहीं रहेगा। इस सूत्र से हो जाता है। जश् विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। जैसे—'सग्धिश्च में, सपीतिश्च में, बब्धान्ते हरी धानाः, में √अद् से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'बहुल छन्दसि' से √अद् को 'घस्लृ' आदेश होकर 'घसिभसोर्हलि च' से उपधा लोप, 'झलो झलि' से सकार लोप तथा 'झषस्तथोर्धोऽधः' 'त्' को 'ध्' होता है। यहां पर उपधा लोप के स्थानिवत् होने के कारण 'झलां जश् 'झशि' से जशत्व प्राप्त नहीं होगा। इस सूत्र से हो जाता है। इस प्रकार धिः' रूप बनकर 'समाना ग्धिः' का समास होकर समान को 'स' भाव होकर 'सग्धिः' रूप बनता है। 'बब्धाम्' में √भस् से लोट् लकार प्रथम पुरुष, द्विवचन में 'शप्' को 'श्लु' होकर, द्वित्व तथा अभ्यास कार्य, होकर 'घसिभसोर्हलि च' से उपधा लोप, 'झलो झलि' से सकार लोप, तथा 'झषस्तथोर्धोऽधः' से धत्व होता है। यहाँ पर उपधा लोप के स्थानिवत् होने के कारण 'झलां जश् झशि' से जशत्व नहीं हो पायेगा। इस सूत्र से हो जाता है। चर् विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। जैसे—

'जक्षतुः, जक्षुः' तथा 'अक्षन्नमीमदन्तः पितरः' में लिट् लकार, द्विवचन तथा बहुवचन में √अद् को 'घस्लृ' आदेश, 'गमहनजनखनघसाम्' से उपधा लोप होकर द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होता है। यहाँ पर उपधा लोप, के स्थानिवत् होने से 'खरि च' से घकार को चर्त्व प्राप्त नहीं होता है। इस सूत्र से हो जाता है। तब 'शासिवसिघसीनां च' से षत्व होकर 'जक्षतुः जक्षुः' रूप बनते हैं। 'अक्षन्' यहां √अद् के लङ् लकार बहुवचन में 'घस्लृ' आदेश होकर 'च्लि' का 'मन्त्रे घसह्वरणश०' से लोप होकर 'गमहनजनखनघसां' से उपधा लोप होता है। उसके स्थानिवत् होने से 'खरि च' से चर्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। इस सूत्र से हो जाता हैं। स्वर-दीर्घ-यलोप विधि में ही लोप अजादेश स्थानिवत् नहीं होता, अन्यत्र तो स्थानिवत् ही होता है। इस कारण बहुखट्वकः 'किर्योः, गिर्योः वाय्वोः' में स्थानिवत् होने से स्वर, दीर्घ तथा यलोप नहीं होते।

व्याख्या—१. पदान्त विधि—पदान्त विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। पद के अन्त में की जाने वाली विधि पदान्त विधि कहलाती है।

कौ स्तः—√अस्+तस्	**कानि सन्ति । तानि सन्ति**
कर्त्तरि शप्—अस्+शप्+तस्	अस्+झि (लट्)
अदिप्रभृतिभ्यः शपः—अस्+तस	कर्त्तरि शप्—अस्+शप्+झि
श्नसोरल्लोपः—स्+तस्	अदिप्रभृतिभ्यः०— अस्+झि
रुत्व विसर्ग होकर—स्तः	झोऽन्तः—अस्+अन्ति
	श्नसोरल्लोपः— स्+अन्ति=

यहां पर 'स्तः' में होने वाला अकार लोप परनिमित्तक है तथा अजादेश है किन्तु स्थानिवत् नहीं होता। यदि वह स्थानिवत् हो जाए तो 'कौ स्तः' में 'एचोऽयवायावः' से आवादेश तथा 'कानि सन्ति' में यणादेश हो जायेगा। पदान्तविधि होने के कारण स्थानिवत् नहीं होता है।

२. द्विर्वचन—द्विर्वचन विधि के प्रति भी अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—

दद्ध्यत्र	**मद्ध्वत्र**
दधि+अत्र	मधु+अत्र
इको यणचि—द ध् य्+अत्र	म ध् व्+अत्र
अनचि च— द ध् ध् य्+अत्र	म ध् ध् व्+अत्र
झलां जश्०—द द् ध्य्+अत्र	म द् ध्व्+अत्र
=दद्ध्यत्र	=मद्ध्वत्र

यहां पर दधि तथा मधु में इकार-उकार के स्थान पर होने वाला यणादेश स्थानिवत् नहीं होता। यदि वह स्थानिवत् हो जाए तो 'अनचि च' से द्वित्व नहीं हो सकता था।

३. वरे—वरच् प्रत्यय परे रहने पर होने वाला अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—यायावरः।

पुनः पुनरतिशयेन भृशं वा यातीति-यायावरः

धातोरेकाचो० —या + यङ्

सन्यङोः—या + या + य

ह्रस्वः—य + या + य

दीर्घोऽकितः—या या य

सनाद्यन्ता धातवः से धातु संज्ञा होकर

यश्च यङः—या या य + वरच्

अतोलोपः—यायाय् + वर

लोपोव्योर्वलि—याया वर—यायावर; ।

यहां पर 'या' के आकार का लोप परनिमित्तक तथा अजादेश है किन्तु स्थानिवत् नहीं होता। यदि यह स्थानिवत् हो जाए तो 'आतोलोप इटि च' से आकार लोप हो जाता।

४. यलोप—यलोप विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—

कण्डूतिः √कण्डू

कण्ड्वादिभ्यो०—कण्डू + यक्

स्त्रियां क्तिन्—कण्डूय + क्तिन्

अतो लोपः—कण्डूय् + ति

लोपो व्योर्वलि—कण्डूति—कण्डूतिः।

यहां पर 'अतोलोपः' से होने वाला अकारलोप 'य्' के लोप करने में स्थानिवत् नहीं होता। स्थानिवत् होने पर यकार लोप प्राप्त नहीं होगा।

५. स्वर—स्वर विधि करने में भी अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

चिकीर्षकः	**जिहीर्षकः**
धातोः कर्मणः० कृ + सन्	हृ + सन्
अजझनगमां सनि—कॄ + सन्	हॄ + सन्
ऋत इद्धातोः—किर् + स	हिर् + स
हलि च—कीर् + स	हीर् + स
सन्यङोः—कीर् कीर् + स	हीर् + हीर् + स
हलादिः० ह्रस्वः, कि कीर् + स	हि हीर् + स
कुहोश्चुः—चि कीर् + स	जि + हीर् + स
आदेशप्रत्यययोः—चिकीर्ष	जिहीर्ष
'सनाद्यन्ताधातवः' से धातु संज्ञा	जिहीर्ष + णवुल्
णवुल् तृचौ—चिकीर्ष + णवुल्	जिहीर्ष + अक
युवोरनाकौ— चिकीर्ष + अक	जिहीर्ष + अक
अतोलोपः—चिकीर्ष + अक	जिहीर्षक
= चिकीर्षक	

यहां पर 'अतो लोपः' से होने वाला अकार लोपः स्थानिवत् नहीं होता। यदि यह स्थानिवत् हो जाए तो 'लिति' सूत्र से पकार के अकार को उदात्त हुआ करेगा।

६. सवर्ण विधि—सवर्ण विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

शिण्ढि—√ शिष्+सिप्
रुधादिभ्यः०—शि श्नम् ष्+सि
सेर्ह्यपिच्च— शि न ष्+हि
श्नसोरल्लोपः—शि न् ष्+हि
हुझल्भ्योर्हेर्धिः—शिन्ष्+धि
ष्टुनाष्टुः—शिन्ष्+ढि
झलां जश् झशि=शि न् ड्+ढि
झरो झरि सवर्णे—शि न् ढि
न श्चापदान्तस्य०—शिं ढि
अनुस्वारस्य ययि०—शिण्ढि

पिण्ढि—√पिष्+सिप्
पि श्नम् ष्+सि
पि न ष्+हि
पि न् ष्+हि
पि न् ष्+धि
पि न् ष्+ढि
पिन् ड्+ढि
पि न् ढि
पि ढि
पि ण् ढि=पिण्ढि

यहां पर 'श्नसोरल्लोपः' से होने वाला अकार लोप स्थानिवत् नहीं होता। यदि यह स्थानिवद् हो जाए तो नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को पर सवर्ण नहीं हो सकता था।

७. अनुस्वार विधि—अनुस्वार विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

शिंषन्ति—शिष्+झि
रुधादिभ्यः श्नम्—शि श्नम् ष् झि
झोऽन्तः—शि न ष्+अन्ति
श्नसोरल्लोपः—शि न् ष्+अन्ति
नश्चापदान्तस्य० शिंषन्ति

पिंशन्ति—पिष्+झि
पि श्नम् श्+झि
पि न श्+अन्ति
पि न् श+अन्ति
पिंशन्ति

यहां पर 'श्नम्' के अकार का लोप अजादेश तथा परनिमित्तक होने पर भी स्थानिवत् नहीं होता। यदि यह स्थानिवत् हो जाए तो 'न्' को अनुस्वार नहीं बन पायेगा।

८. दीर्घ विधि—दीर्घ विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

प्रतिदीव्ना—प्रतिदिवन्+टा
प्रतिदिवन्+आ
यचि भम् से भ संज्ञा होकर
अल्लोपोनः—प्रतिदिव्न्+आ
हलि च—प्रतिदीव्ना

प्रतिदीव्ने—प्रतिदिवन्+ङे
प्रतिदिवन्+ए
प्रति दि व् न्+ए
प्रतिदीव्ने

यहां पर 'अल्लोपोन:' से होने वाला अकारलोप परनिमित्तक तथा अजादेश है पुनरपि स्थानिवत् नहीं होता। इसके स्थानिवत् होने से 'हलि च' से दीर्घत्व नहीं हो पायेगा।

६. **जश् विधि**—जश्विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—

सग्धि:— + अद्
स्त्रियां क्तिन्—अद् + क्तिन्
बहुलं छन्दसि—घस्लृ + क्तिन्
=घस् + ति
घसिभसोर्हलि च—घ्स् + ति
झलो झलि—घ् + ति
झषस्तथोर्धोऽध:—घ् + धि
झलां जश् झशि—ग् + धि
समाना ग्धि=सग्धि
समानस्य छन्दसि० से समान के स्थान पर 'स' आदेश
सपीति:—√पा
स्त्रियां क्तिन्—पा + क्तिन्
घुमा स्थागापा०—पी + ति

बब्धाम्—भस् + तस् (लोट्)
जुहोत्यादिभ्य: श्लु:
तस्थस्थमिपां०—भस् + ताम्
श्लौ—भस् + भस् + ताम्
हलादि०, अभ्यासेचर्च—ब + भस् + ताम्
घसि भसोर्हलि च—ब + भ् स् + ताम्
झषस्तथोर्धोऽध:— ब + भ्स् धाम्
झलो झलि—ब ब् + धाम्
झलां जश् झशि—व् व + धाम्
=बब्धा...

यहां पर 'सग्धि:' तथा 'बब्धाम्' में 'घसिभसोर्हलि' से होने वाला उपधा लोप परनिमित्तक है। उसे स्थानिवत्भाव न होने से 'झलां जश् झशि' से दोनों स्थानों पर जशत्व हो जाता है।

१०. **चर् विधि**—चर्विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

जक्षतु:—अद् + तस् (लिट्)
परस्मैपदानां०—अद् + अतुस्
लिटचन्यतर०—घस्लृ + अतुस्
लिटिधातो०— घस् + घस् + अतुस्
हलादि:०—, कुहोश्चु:—ज + घस् + अतुस्
गमहन जन०—ज + घ्स् +
खरि च—ज + क्स् + अतुस्
शासिवसि०—ज क् ष् अतुस्
—जक्षतु:
जक्षु:=अद् + झि (उस्)

अक्षन्—अद् + झि (लुङ्)
लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व०— अट् + घस्लृ + घस्लृ + झि
च्लि लुङि—अ + घस् + च्लि + झि
मन्त्रेघसह्वर०— अ + घस् + झि
गमहनजन०— अ + घ्स् + झि
खरि च—ज + क्स् + अतुस्
शासिवसि०—ज क् ष् + झि
झोऽन्त:—अक्ष् + अन्ति
इतश्च—अक्षन्त्
संयोगान्तस्य लोप:—अक्षन्

यहां दोनों स्थानों पर 'गमहनजन०' से होने वाला उपधालोप स्थानिवत् नहीं होता। स्थानिवत् न होने से 'खरि च' से चर्त्व हो जाता है।

स्वर-दीर्घ तथा यलोप करने में ही लोपरूप अजादेश स्थानिवत् नहीं होता, अन्यत्र तो स्थानिवत् हो जाता है। इसलिए 'बहुखट्वकः, किर्योः, गिर्योः, वाय्वोः' में अजादेश के स्थानिवत् होने से स्वर-दीर्घ तथा यलोप नहीं होते। बहुखट्वकः में 'कप्' को मान कर 'वा' में अकार के स्थान पर ह्रस्व अकार हुआ है। अकार को स्थानिवत् मानकर 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' से खकारस्थ अकार को उदात्त नहीं होता अपितु 'कपि पूर्वम्' से वकारस्थ अकार को ही उदात्त होता है।

किर्योः—√कॄ
कॄग्रोरिच्च—कि + कि (इ)
उरण् रपरः—किर् + इ = किरि
किरि + ग्रोस्
इको यणचि—किर्योस् = किर्योः
इसी प्रकार गॄ + कि = गिर्योः

वाय्वोः—वायु + ग्रोस्
इकोयणचि—वाय्वोस् = वाय्वोः

यहां पर 'किर्योः गिर्योः' में इक् के स्थान में परनिमित्तक अजादेश (यण्) हुआ है। यहां स्थानिवद् भाव का निषेध न होने से 'हलि च' से इकार को दीर्घ नहीं होता 'वाय्वोः' में परनिमित्तक यणादेश के स्थानिवत् होने से 'लोपो व्योर्वलि' से 'य्' का लोप नहीं होता।

द्विर्वचनेऽचि ॥५९॥

द्विर्वचननिमित्तेऽचि अजादेशः स्थानिवद्भवति द्विर्वचन एव कर्त्तव्ये। रूपातिदेशश्चायं नियतकालस्तेन कृते द्विर्वचने पुनरादेशरूपमेवावतिष्ठते। आल्लोपोपधालोपयण्यवायावादेशाः प्रयोजनम्। आल्लोपः पपतुः पपुः, "आतो लोप इटि च" (अ० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् "एकाच" इति द्विर्वचनं भवति। उपधालोपः जघ्नतु, जघ्नुः। "गमहनजनखनघसाम्" (अ० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे कृते, अनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न स्यात्, अस्माद्वचनाद्भवति। णिलोपः आटिटत्। आटतेर्णिचि लुङि चङि णिलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वात् "अजादेर्द्वितीयस्य" (अ० सू० ६।१।२) इति टिशब्दस्य द्विर्वचनं भवति। यण् चक्रतुः, चक्रुः। करोतेरतुसि उसि च यणादेशे कृतेऽनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न स्यात् स्थानिवत्त्वाद्भवति। अयवायावादेशाः निनय, निनाय, लुलव, लुलाव। नयतेर्लुनातेश्चोत्तमे णलि गुणे कृते वृद्धौ चायवायावादेशास्तेषां स्थानिवत्त्वान्नेलोनैलाविति द्विर्वचनं भवति। द्विर्वचन इति किम्? जग्ले। मम्ले श्रवणमाकारस्य न भवति। द्विर्वचननिमित्त इति किम्? दुद्यूषति ऊठि यणादेशो न स्थानिवद्भवति। अचीति किम्? जेघ्रीयते, देध्मीयते। "ईघ्राध्मोः" (अ० सू० ७।४।३१) "यङि च" (अ० सू० ७।४।३०) इति ईकारादेशस्तस्य स्थानिवद्भावाद[illegible] द्विर्वचनं स्यात्, [illegible] भवति।

वृत्यर्थ—द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहने पर होने वाला अजादेश द्विर्वचन करने में ही स्थानिवत् होता है। यह रूपातिदेश है कार्यातिदेश नहीं। इसलिए द्विर्वचन कर लेने पर पुनः आदेश का रूप ही यथावत् अवस्थित रहता है। इस सूत्र के प्रयोजन आ लोप, उपधा लोप, णिलोप, यण्, अयादेश, अवादेश, आयादेश तथा आवादेश है। **आकार लोप**—'पपतुः' 'पपुः' में 'आतो लोप इटि च' से आकार लोप करने पर उसके स्थानिवत् होने से 'एकाचो द्वे०' से द्विर्वचन हो जाता है। **उपधा लोप**—'जघ्नतुः' 'जघ्नुः' यहाँ पर **'गमहनजनखन०'** से उपधा लोप करने पर 'ग्म्' इस अवस्था में धातु में कोई अच् न होने से द्वित्व प्राप्त नहीं है। इस सूत्र से हो जाता है। **णिलोप**—√अट् से णिच्, लुङ्, चङ् तथा णिलोप करने पर णिलोप के स्थानिवत् होने 'अजादेर्द्वितीयस्य' से 'टि' को द्वित्व होता है। यण्—'चक्रतुः' 'चक्रुः' यहाँ पर √कृ से अतुस् तथा उस् प्रत्यय तथा यणादेश करने पर क् र्+अतुस् इस अवस्था में अच् रहित धातु होने से द्वित्व प्राप्त नहीं होता। इस सूत्र से स्थानिवत् होने से हो जाता है। अय् अव् आय् आव् आदेशों के उदाहरण—'निनय, निनाय, लुलव, लुलाव' यहाँ पर √नी तथा √लू से उत्तम पुरुष में णल्, गुण तथा वृद्धि करने पर जो अय् अव् आय् अवादेश होते हैं उनके स्थानिवत् होने से 'ने, लो, नै, लौ' को द्वित्व होता है।

द्विर्वचन इसलिए कहा है कि 'जग्ले' 'जम्ले' में आकार सुनाई नहीं होता है। द्विर्वचन निमित्तक इसलिए कहा है कि 'दुद्यूषति' में 'ऊठ्' परे रहने पर यणादेश स्थानिवत् नहीं होता 'यङि च' 'ई घ्राध्मोः' सूत्रों से ईकारादेश होता है। इसके स्थानिवत् होने से आकार को ही द्वित्व प्राप्त होगा। सूत्र में 'अच्' ग्रहण से ऐसा नहीं होता है।

व्याख्या—द्वित्व निमित्तक अच् परे रहने पर द्विर्वचन करने में अजादेश स्थानिवत् होता है। इससे पूर्व सूत्रों द्वारा कार्यातिदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र द्वारा रूपातिदेश का विधान किया जा रहा है। इसके प्रयोजन हैं—आलोप, उपधालोप, णिलोप तथा यणादेशादि।

आलोप—पपतुः = पा + तस्
परस्मैपदानां० पा + अतुस्
आतो लोप० प् + अतुस्
आ लोप के स्थानिवत् होने से
लिटि धातोः० पा + प् अतुस्
ह्रस्वः—प + प् + अतुस्
पपतुस् = पपतुः
इसी प्रकार
पा + झि (उस्) = पपुः

उपधा लोप—जघ्नतुः, जघ्नुः
हन् + तस्
हन् + अतुस्
गमहनजन०—ह् न् + अतुस्
उपधालोप के स्थानिवत् होने से
हन् + ह् न् + अतुस्
हलादिशेषः, अभ्यासेन्चर्च—ज + ह् न् + अतुस्
अभ्यासाच्च—जघ् न् + अतुस्
जघ्नतुस् = जघ्नतुः
हन् + झि (उस्) = जघ्नुः

यहाँ पर पपतुः, पपुः में होने वाले आकार लोप के स्थानिवत् होने से तथा जघ्नतुः, जघ्नुः में उपधालोप के स्थानिवत् होने से द्वित्त्व हो जाताहै। अन्यथा धातु में अच् न रहने के कारण द्वित्त्व प्राप्त नहीं था।

णिलोप—आटिटत् √अट् + तिप् (लङ्)

आडजादीनाम्—आट् + अट् + ति

हेतुमति च—आ + अट् + णिच् + ति

णिश्रिद्रुस्रु० आ + अट् + इ + चङ् + ति

णेरनिटि—आ + अट् + अ + ति

द्विर्वचनेऽचि

चङि, अजादे० आ + अटि + ट् + अ + ति

इतश्च—आ अटि + ट + त् = आटिटत्

यहाँ पर 'णेरनिटि' से णिच् (इ) का लोप होने पर √अट् में दो अच् नहीं रहते। अतः द्वित्त्व नहीं हो सकता था क्योंकि अजादि धातुओं के द्वितीय अच् को द्वित्त्व होता है। णिलोप को स्थानिवत् मानकर √अटि में दो अच् बन जाते हैं। अतः द्वित्त्व हो गया।

यणादेशः—चक्रतुः, चक्रुः

√कृ + तस्

परस्मैपदानां० कृ + अतुस्

इको यणचि—क् र् + अतुस्

द्विर्वचनेऽचि

लिटि धातो० कृ + क् र् + अतुस्

उरत्, उरण् रपरः—कर् + क् र् + अतुस्

हलादिः०, कुहोश्चुः—च + क्र् + अतुस् = चक्रतुस् = चक्रतुः।

इसी प्रकार कृ + झि (उस्) चक्रुः।

यहाँ पर द्वित्व करने में यणादेश स्थानिवत् हो गया अन्यथा 'क् र् + अतुस्' इस अवस्था में द्वित्व नहीं हो सकता था।

अयादेश—निनय, निनाय

नी√ + मिप् (लिट्)

परस्मैपदानां० नी + णल्

सार्वधातुक०—ने + अ

एचोऽयवायावः—नय् + अ

द्विर्वचनेऽचि

ने + नय् + अ

ह्रस्वः—नि + नय् + अ = निनय

णलुत्तमो वा से णल् विकल्प से णित् बना। अचोञ्णिति—नै + अ

अवादेश—लुलव लुलाव

√लू + मिप् (लिट्)

लू + णल्

लो + अ

लव् + अ

लो + लव् + अ

लु + लव् + अ = लुलव

लौ + अ

नै + नाय् + अ	लौ + लाव् + अ
ह्रस्वः — नि + नाय् + अ = निनाय	लु + लाव् + अ = लुलाव

यहाँ पर √नी तथा √लू को गुण-वृद्धि करने पर अय्, आय्, अव्, आव् आदेश होते हैं किन्तु स्थानिवद् भाव से इन आदेशों को द्वित्व न होकर ने नै, लो, लौ, को ही द्वित्व हुआ है।

सूत्र में 'द्विर्वचने' इसलिए कहा है कि द्विर्वचन करने में ही अजादेश स्थानिवत् होगा, अन्यत्र नहीं। यथा—

जग्ले — ग्लै + लिट्	मम्ले — म्लै + लिट्
आदेच उपदेशे० ग्ला + त	म्ला + त
लिट्स्तझयो० ग्ला + एश्	म्ला + एश्
एकाचो० ग्ला + ग्ला + एश्	म्ला + म्ला + एश्
हलादिः शेषः, कुहोश्चुः — ज + ग्ला + ए	म + म्ला + ए
आतो लोप इटि च — ज + ग्ल् + ए = जग्ले	म + म्ल् + ए = मम्ले

यहां पर 'आदेच उपदेशे०' से अनैमित्तिक आकार हुआ है। यहाँ न केवल द्वित्व करना है अपितु 'आतो लोपः०' से आकार का लोप भी करना है। इसलिए आकारलोप स्थानिवत् नहीं होता। यदि कालावधारण न करते तो 'ज + ग्ल् + ए' इस अवस्था में द्विर्वचन होने के पश्चात् भी आलोप के स्थानिवत् होने के कारण, वृद्धिरेचि से वृद्धि होकर जग्लै रूप बनता।

जहां द्वित्व का निमित्तक अच् परे होगा, वहीं पर स्थानिवद् भाव होगा, अन्यत्र नहीं यथा 'द्यूपति' में दिव् के वकार के स्थान में 'ऊठ्' हुआ है किन्तु यह द्वित्व निमित्तक नहीं है। अतः 'दि + ऊठ् = द्यू' यहाँ पर द्वित्व करने में यणादेश स्थानिवद् नहीं होता।

सूत्र में 'अचि' इसलिए कहा है कि द्वित्व का निमित्त अच् परे रहने पर ही स्थानिवद् भाव होता है, अन्यथा नहीं। यथा—

जेघ्रीयते — √घ्रा	देध्मीयते — √ध्मा
धातोरेकाचो हलादेः० घ्रा + यङ	ध्मा + यङ
ई घ्राध्मोः — घ्री + य	ध्मी + य
सनाद्यन्ता धातवः — घ्रीय + त	ध्मीय + त
सन्यङोः — घ्रीय + घ्रीय + त	ध्मीय + ध्मीय + त
हलादिः०, — कुहोश्चुः — जी घ्रीय त	अभ्यासेचर्च — दीध्मीयत
गुणो यङ् लुकोः — जेघ्रीयत	देध्मीयत
टित आत्मनेपदानां० — जेघ्रीयते	देध्मीयते

यहां पर 'ई घ्राध्मोः' सूत्र द्वारा यङ् परे रहने पर ईकारादेश का विधान

किया गया है, अच् परे रहने पर नहीं। यहाँ द्वित्व का निमित्त भी 'यङ्' है, अजादि प्रत्यय नहीं। अतः ईकारादेश स्थानिवद् नहीं हुआ। ईकार के स्थानिवद् होने से 'घ्रा घ्रा' द्वित्व हुआ करता।

विशेष—सिद्धान्त कौमुदी में इस सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार की गई है। वहाँ पर द्वित्व निमित्तक 'अच्' परे रहने पर द्वित्व करने में अजादेश का निषेध किया गया है। यद्यपि काशिका तथा सि० कौ० की व्याख्याओं में सिद्धियों की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं आता है तथापि काशिका की व्याख्या महाभाष्य के अनुकूल है। भाष्य में भी स्थानिवत् का विधान किया गया है, निषेध नहीं।

अदर्शनं लोपः ॥६०॥

अदर्शनमश्रवणमनुच्चारणमनुपलब्धिरभावो वर्णविनाश इत्यनर्थान्तरमेतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तस्य लोप इतीयं संज्ञा भवति। अर्थस्येयं संज्ञा न शब्दस्य। प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं भवति "गोधाया ढ्रक्" (अ० सू० ४।१।१२९) गौधेरः, पचेरन्। जीवेरदानुक्—जीरदानुः। स्निवेर्मनिन्, आस्रेमाणम्। यकारवकारयोरदर्शनमिहोदाहरणम्। अपरस्यानुबन्धादेः प्रसक्तस्य। लोपप्रदेशाः, "लोपो व्योर्वलि" (अ० सू० ६।१।६६) इत्येवमादयः।

वृत्त्यर्थ—अदर्शन, अश्रवण, अनुच्चारण, अनुपलब्धि, अभाव, वर्ण विनाश ये सभी एक ही अर्थ वाले हैं। इन शब्दों के द्वारा जो अर्थ कहा जाता है, उसकी अदर्शन संज्ञा होती है। यह संज्ञा अर्थ की है, शब्द की नहीं। यथा—'गोधाया ढ्रक्' सूत्र से 'गौधेरः' बनता है। 'पचेरन्' में 'सीयुट्' के सकार यकार का लोप होता है। जीरदानु, में √जीव्, से 'रदानुक्' प्रत्यय होकर वकार का लोप होता है। 'आस्रेमाणम्' में √स्रिवु से मनिन् प्रत्यय होकर वकार का लोप होता है। यहाँ पर यकार तथा वकार के अदर्शन के उदाहरण दिए हैं। अन्य ककार सकार आदि अनुबन्ध 'रदानुक्' तथा 'सीयुट्' में हैं, उनकी भी लोप संज्ञा है। लोप संज्ञा के विधान सूत्र 'लोपोव्योर्वलि' आदि हैं।

व्याख्या— **गौधेरः**

गौधाया ढ्रक्—	गोधा+ढ्रक्
हलन्त्यम्—	गोधा+ढ्र
किति च	गौधा+ढ् र
आयनेयी०	गौ धा+एय् र
लोपो व्यो०	गौ धा+ए र
यस्येति च	गौ ध् ए र
	गौधेरः

जीरदानुः— √जीव्

जीवे रदानुक्	जीव्+ररानुक्
लोपो व्योर्वलि—	जी+रदानु जीरदानुः
आस्रेमाणम्—	आङ्+स्रिव्+मनिन्
लोपोव्योर्वलि—	आ+स्रि+मनिन्
सार्वधातु०	आ+स्रे+मनिन्
उपदेशेऽज०	हलन्त्यम्—आ+स्रे+मन्

पचेरन्—पच्+झि (आ० लिङ्)
पच्+शप्+झि
लिङः सीयुट्—पच्+शप्+सीयुट्+झि
झस्य रन्—पच्+अ+सीय्+रन्
लिङः सलोपो० पच्+अ+ईय्+रन्
लोपो व्यो० पच्+अ+ई+रन्
आद् गुणः—पच्+ए+रन् पचेरन्

आस्त्रेमान्+अम्
(द्वितोया एकवचन)
सर्वनाम स्थाने० आस्त्रेमान्+अम्
अट् कुप्० आस्त्रेमाण्+अम्
आस्त्रेमाणम्

यहाँ पर 'गौधेरः' में 'य्' का अदर्शन, 'पचेरन्' में 'य्' तथा 'स्' का 'जीरदानु' तथा 'आस्त्रेमाणम्' में 'व्' का अदर्शन लोप संज्ञक हैं। इनके अतिरिक्त ढ्रक्, रदानुक्, शप्, मनिन् आदि के जो ककारादि अनुबन्ध हैं, उनका भी अदर्शन होने के कारण वे भी लोपसंज्ञक हैं।

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ॥६१॥

अदर्शनमिति वर्त्तते। प्रत्ययादर्शनस्य लुक् श्लु लुप् इत्येताः संज्ञा भवन्ति। अनेकसंज्ञाविधानाच्च तद्भावितग्रहणमिह विज्ञायते। लुक्संज्ञाभावितं प्रत्ययादर्शनं लुक्संज्ञं भवति। लुप्संज्ञां भावितं लुप्संज्ञं भवति। तेन संज्ञानां संकरो न भवति। विधिप्रदेशेषु च भाविनी संज्ञा विज्ञायते। अत्ति, जुहोति, वरणा। प्रत्ययग्रहणं किम्? अगस्तयः, कुण्डिनाः। लुक्श्लुलुप्प्रदेशाः 'लुक् तद्धित लुकि' (अ० सू० १.२.४९) 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (अ० सू० २.४.७५) 'जनपदे लुप्' (अ० सू० ४.२.८१) इत्येवमादयः।

वृत्त्यर्थ—अदर्शन की अनुवृत्ति आ रही है। प्रत्यय के अदर्शन की लुक्, श्लु तथा लुप् ये तीन संज्ञाएँ होती हैं। अनेक संज्ञाओं के विधान से यहाँ पर तद्भावित ग्रहण समझा जाता है। लुक् संज्ञा से भावित प्रत्यय का अदर्शन लुक् संज्ञक होता है। श्लु संज्ञा से भावित प्रत्यय का अदर्शन श्लु संज्ञक होता है। लुप् संज्ञा से भावित प्रत्यय का अदर्शन लुप् संज्ञक होता है। इससे संज्ञाओं का संकर नहीं होता है। विधि स्थलों में भाविनी संज्ञा जानी जाती है। जैसे—अत्ति, जुहोति, वरणा। प्रत्यय का ग्रहण अगस्त्य, कुण्डिना आदि के लिए किया है। लुक्, श्लु, लुप् संज्ञाओं के विधानसूत्र 'लुक् तद्धित लुकि' आदि सूत्र हैं।

व्याख्या—प्रत्यय के अदर्शन की लुक्, श्लु तथा लुप् में तीन संज्ञाएँ कही गई हैं। अतः किसी भी स्थल पर प्रत्यय का अदर्शन होने पर ये तीनों संज्ञाएँ प्राप्त होगी। इससे इन संज्ञाओं में परस्पर संकर उत्पन्न हो जायेगा। इसका समाधान काशिकाकार ने दिया है कि यहाँ पर तद्भावितों का ग्रहण

है। अर्थात् प्रत्यय का अदर्शन [illegible] (निष्पन्न) होना चाहिए। यथा—अत्ति-अद्+शप्+तिप् यहाँ पर 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' प्रत्यय होने पर 'अदि प्रभृतिभ्यः शपः', से शप्' का 'लुक्' होता है। अतः यहाँ जो 'शप्' का अदर्शन है वह 'लुक्' संज्ञक है। 'जुहोति' में 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को 'श्लु' होता है। अतः यहाँ पर 'शप्' के अदर्शन की श्लुः संज्ञा है। 'वरणा' में 'वरण' 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्' प्रत्यय परे रहने 'वरणादिभ्यश्च' से उसका 'लुप्' होता है अतः 'अण्' प्रत्यय का अदर्शन 'लुप्' संज्ञक है।

सूत्र में प्रत्यय ग्रहण इसलिए किया है कि प्रकृति के अदर्शन की ये संज्ञाएँ न होने लगे। यथा—अगस्तयः, कुण्डिनाः में प्रकृति का अदर्शन है।

अगस्तयः—

ऋष्यन्धक वृष्णि० अगस्त्य+अ
तद्धितेष्वचामादेः—आगस्त्य+अ
यस्येति च—आगस्त्य्+अ=
आगस्त्य
आगस्त्यकौण्डिन्ययो०=अगस्ति+जस्
जसि च—अगस्ते+अस्
एचोऽयवायावः—अगस्तय्+अस्
अगस्तयस्=अगस्तयः

कुण्डिनाः—

गर्गादिभ्यो० कुण्डिनी+यञ्
तद्धितेस्वचा० कौण्डिनी+य
यस्येति च=कौण्डिन्+य
कौण्डिन्य+जस
आगस्त्य कौन्डिन्ययो०
+अस् कुण्डिन

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः कुण्डिनाः=
कुण्डिास्

यहाँ पर मूल प्रकृति अगस्त्य तथा कुण्डिनी का अदर्शन हुआ है। इसके पश्चात् आगस्त्य० तथा कौण्डिन्य का मी अदर्शन है तथापि इनकी लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञायें नहीं होती क्योंकि यह यह प्रकृति का अदर्शन है प्रत्यय का नहीं।

प्रत्ययलोपे प्रत्यय लक्षणम् ॥६२॥

प्रत्ययनिमित्तं कार्यमसत्यपि प्रत्यये कथं तु नाम स्यादिति सूत्रमिदमारभ्यते। प्रत्ययलोपे कृते प्रत्ययलक्षणं प्रत्ययहेतुकं कार्यं भवति। अग्निचित्, सोमसुत्, अधोक्। इत्यत्र सुप्तिङोर्लुप्तयोः "सुप्तिङन्तं पदम्" (अ० सू० १।४।१६) इति पदसंज्ञा भवति। अधोगिति दुहेर्लङि तिपि शब्लुकि तिलोपे घत्वभष्भावजश्त्वचर्त्वेषु रूपम्। प्रत्यय इति वर्त्तमाने पुनः प्रत्ययग्रहणं किम्। कृत्स्नप्रत्ययलोपे यथा स्यात्। इह मा भूत्, आघ्नीय, सङ्ग्मीय। हनिगम्योर्लिङात्मनेपदे "लिङः स लोपोऽनन्त्यस्य" (अ० सू० ७।२।७९) इति सीयुट्सकार लोपः प्रत्ययैकदेशलोपस्तत्र प्रत्ययलक्षणेन झलीत्यनुनासिकलोपो न भवति।

प्रत्ययलक्षणमिति किम् ? रायः कुलम् रैकुलम् । गवे हितं गोहितम् । आयवादेशौ न भवतो वर्णाश्रयत्वात् ।

वृत्यर्थ—प्रत्यय के न होने पर भी प्रत्यय निमित्तक कार्य हो जाएं, इसलिए यह सूत्र प्रारम्भ किया है । जैसे अग्निचित्, सोमसुत्, अधोक् यहाँ पर 'सुप्' तथा तिङ् प्रत्ययों के लुप्त हो जाने पर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पद संज्ञा हो जाती है । √दुह् से लङ् लकार में तिप्, शप् का लुक्, करने पर घत्व, भषभाव, जशत्व तथा चर्त्व करने पर 'अधोक्' रूप बनता है । पूर्वसूत्र से प्रत्यय की अनुवृत्ति आने पर भी यहाँ पर पुनः प्रत्यय ग्रहण इस लिए किया है कि सम्पूर्ण प्रत्यय से लोप होने पर ही प्रत्ययलक्षण कार्य होता है, प्रत्ययांश का लोप होने पर नहीं । यथा—आघ्नीय, सङ्गमीय यहां पर √हन् तथा √गम से लिङ् लकार में आत्मने पद का त प्रत्यय आने पर 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से होने वाले सीयुट् के सकार का लोप प्रत्यय के एक देश का लोप है, सम्पूर्ण प्रत्यय का नहीं । अतः यहाँ पर प्रत्यय लक्षण मान कर 'झल्' परे रहने पर अनुनासिक का लोप नहीं होता है । प्रत्यय लक्षण इसलिए कहा है कि रायः कुलम्—रै कुलम्, गवे हितम्—गोहितम् यहाँ पर वर्ण के आश्रित होने से 'आय्' तथा अवादेश नहीं होते हैं ।

व्याख्या—प्रत्यय के लोप हो जाने पर भी प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाले कार्य हो जाएं, इसलिए इस सूत्र का आरम्भ किया है ।

अग्निचित्—अग्निं चिनोति
अग्नौ चेः—चि + क्विप्
लशक्व०, हलन्त्यम्—चि + वि
उपदेशेऽज० चि + व्
ह्रस्वस्य पिति० चि + तुक् + व्
= चि + त् + व्
वेरपृक्तस्य—चित्
अग्नि + चित् = अग्निचित्
सोमसुत्—सोमं सुनोति
सोमे सुञः—चे + क्विप् (शेष पूर्ववत्)
अधोक्—दुह + तिप् (लङ्)
लुङ्० लङ्लृङ्० अट् + दुह + ति

कर्त्तरि० अट् + दुह् + शप् + ति

आघ्नीयः—आङ् + √हन्
आङो यमहनः—आ + हन् + इट् (वि० लि०)
कर्त्तरिशप्—आ + हन् + शप् + इट्
अदि प्रभृतिभ्यः०—आ + हन् + इट्
लिङः सीयुट् आ + हन् + सीयुट् इट्
गमहनजन० आ + ह् न् + सीयुट् + इट्
लिङःसलोपो० आ + ह् न् + ईय् + इट्
हो हन्तेर्ञ्णि० आ + घ् न् + ईय् + इट्
इटोऽत् आघ्न् + ई य् + अत्
आघ्नीय
सङ्गमीय—सम् + गम् + इट्

अदि प्रभृतिभ्यः० अ+दुह्+ति
सार्वधातुका० अ+दोह्+ति
दादेर्धातोर्घः अ+दोघ्+ति
एकाचो बशोभष्० अधोघ्+ति
हलङ्याब्भ्यो० अधोघ्
झलां जशोऽन्ते—अधोग्
वावसाने—अधोक्

(शेष आघ्नीय वत्) यहाँ पर 'सोमगम्यृ०' से आत्मेन पद होगा।

जहाँ पर सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप हो वहीं पर प्रत्यय लक्षण कार्य होता है। अन्यत्र नहीं। इन दोनों उदाहरणों में 'सीयुट्' प्रत्यय के एकदेश 'स्' का लोप हुआ है। सम्पूर्ण प्रत्यय का नहीं। अतः प्रत्यय लक्षण नहीं हुआ। यदि प्रत्यय लक्षण होता तो 'अनुदात्तोपदेश वनति०' से 'आ+घ्+न्+ईय' इन अवस्थाओं में नकार तथा मकार का लोप हो जाता।

सूत्र में 'प्रत्यय लक्षण' पद इस लिए पढा है कि जहाँ पर प्रत्यय को निमित्त मानकर कोई कार्य करना हो वहीं पर प्रत्यय लक्षण होगा, अन्यत्र नहीं। (यथा—रायः कुलम्—रै कुलम्। गवे हितम्—गो हितम्। यहाँ पर समास होने पर 'रै' तथा 'गो' के आगे वाली 'ङस्' तथा 'ङे' विभक्तियों का लोप हुआ है किन्तु यहाँ पर प्रत्यय लक्षण मानकर 'एचोऽयवायावः' से 'आय्' तथा 'अव्' आदेश भी नहीं होते क्योंकि ये आदेश सम्पूर्ण प्रत्यय के आश्रय से विहित नहीं हैं अपितु वर्ण के आश्रय से कहे गये हैं।

न लुमताङ्गस्य ॥६३॥

पूर्वेणातिप्रसक्तं प्रत्ययलक्षणमिति विशेषे प्रतिषेध उच्येत। लुमता शब्देन लुप्ते प्रत्यये यदङ्गं तस्य प्रत्ययलक्षणं कार्यं न भवति। गर्गाः, मृष्टः, जुहुतः। शब्यञोर्लुमता लुप्तयोरङ्गस्य गुणवृद्धी न भवतः। लुमतेति किम्? कार्यते। अङ्गस्येति, किम्? पञ्च, सप्त, पयः, साम।

वृत्यर्थ—पूर्व सूत्र से अति प्रसक्त प्रत्यय लक्षण का विशिष्ट स्थलों में प्रतिषेध किया जाता है। 'लुमता' शब्द से प्रत्यय का लोप होने पर अङ्ग को प्रत्यय निमित्तक कार्य नहीं होते है। यथा—गर्गाः, मृष्टः, जुहुतः। यहाँ पर 'शप्' तथा 'यञ्' प्रत्ययों का लोप होने पर प्रत्यय लक्षण से अङ्ग को गुण-वृद्धिः नहीं होते हैं। 'लुमता' इसलिए कहा है कि 'कार्यते, हार्यते' यहाँ पर वृद्धि हो जाती है। 'अङ्गस्य' इसलिए कहा है कि पञ्च, सप्त, पयः, साम यहाँ पर अङ्ग के स्थान पर होने के कारण प्रत्यय लक्षण से पदसंज्ञा आदि कार्य हो जाते हैं।

व्याख्या—लुमता का अर्थ है—'लु' शब्द है जिसमें। 'लु' से 'लुक्' 'श्लु' तथा 'लुप्' इन तीनों का ग्रहण होता है। अतः सूत्र का भाव है कि लुक्, श्लु तथा लुप् इन शब्दों के द्वारा प्रत्यय लोप होने पर अङ्ग को प्रत्यय निमित्तक कार्य नहीं होते। यथा—

गर्गाः—

गर्गादिभ्यो यञ्—गर्ग+यञ्
यञिञोश्च—गर्ग
गर्ग+जस् (अस्)
प्रथमयोः पूर्वसवर्णः गर्गास्=गर्गाः

यहाँ पर 'लुक्' शब्द के द्वारा 'यञ्' प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्यय लक्षण कार्य हो जाता तो 'तद्धितेष्वचामादेः' से वृद्धि होकर अनिष्ट रूप बनता। 'यञिञोश्च' में लुक्' की अनुवृत्ति आ रही है।

मृष्टः—√मृज्+शप्+तस्
अदिप्रभृतिभ्यः शपः— मृज्+तस्
व्रश्चभ्रस्जसृज० मृष्+तस्
ष्टुनाष्टुः मृष्टस्=मृष्टः

यहां पर 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लोप होने पर प्रत्यय लक्षण का निषेध हो जाता है जिससे 'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि नहीं होती। अदि प्रभृतिभ्यः० में 'लुक्' की अनुवृत्ति आ रही है।

जुहुतः—√हु+तस्
हु+शप्+तस्
जुहोत्यादिभ्यः श्लुः हु+तस्
श्लौ हु+हु+तस्
कुहोश्चुः जु+हु+तस्
जुहुतस्=जुहुतः

यहाँ पर प्रत्यय का लोप 'श्लु' शब्द से हुआ है। इन तीनों उदाहरणों में लुमता—लुक्, श्लु, लुप् द्वारा प्रत्यय का अदर्शन है। अतः प्रत्यय लक्षण मान कर गुण-वृद्धि नहीं हो पाये।

सूत्र में 'लुमता' इसलिए है कि 'लुक्' 'श्लु' तथा 'लुप्' शब्दों से से अदर्शन होने पर प्रत्यय लक्षण कार्य नहीं होते, अन्यत्र तो हो जाते हैं। यथा—

कार्यते—√कृ
भावकर्मणोः—कृ+त

हेतुमति च—कृ+णिच्+त
सार्वधातुके यक्—कृ+णिच्+य+त
णेरनिटि—कृ+य+त
प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्
अचोञ्णिति—कार्+य+त
टित आत्मने पदानां०—कार्+य+ते=कार्यते

इसी प्रकार हृ+णिच्+यक्+त=हार्यते

यहाँ पर 'णि' का लोप लुक्, श्लु, लुप् शब्दों के द्वारा नहीं हुआ है अपितु 'णेरनिटि' सूत्र द्वारा हुआ है। णेरनिटि में लोप की अनुवृत्ति आ रही है। अतः यहाँ पर प्रत्यय लक्षण के द्वारा वृद्धि हो गयी।

अङ्ग को ही प्रत्यय लक्षणकार्य का निषेध होता है। अङ्ग से भिन्न को प्रत्ययलक्षण कार्य हो जाते हैं। यथा—पञ्च, सप्त, पयः साम।

पञ्च—पञ्चन्+जस्
षड्भ्यो लुक्—पञ्चन्
प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्
न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य—पञ्च
इसी प्रकार सप्तन्+जस्=सप्त
—सामन्+सु
स्वमोर्नपुंसकाच्च—सामन्
न लोपः प्रातिपदि० साम

पयः=पयस्+सु
स्वमोर्नपुंसकात्—पयस्
ससजुषोरु　　पय रु (र्)
खरवसानयो०— पयः

यहां पर पञ्च, सप्त तथा साम शब्दों में विभक्ति का लोप होकर प्रत्यय लक्षण के द्वारा 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पद संज्ञा होकर नकार लोप हों जाता है। 'पयः' में भी 'सु' का लोप होने पर प्रत्यय लक्षण से पदसंज्ञा होकर नकार लोप हो जाता है। 'पयः' में भी 'सु' का कोप होने पर प्रत्यय लक्षण से पद संज्ञा होकर सकार को विसर्ग हो जाते हैं। इन चारों उदाहरणों में 'लुक्' शब्द से ही 'सु' तथा 'जस्' का लोप होता है किन्तु यहाँ प्रत्यय निमित्तक कार्य अङ्ग को न होकर पद को होते हैं। अतः प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता।

अचोऽन्त्यादि टिः ॥६४॥

अच इति निर्द्धारणे षष्ठी। जातावेकवचनम्। अचां संनिविष्टानां योऽन्त्यो-ऽच् तदादि शब्दरूपं टिसंज्ञं भवति। अग्निचित्, इच्छब्दः। सोमसुत्, उच्छब्दः। आताम्, आथाम्, आम्शब्दः। पचेते, पचेथे। टिप्रदेशाः "टित आत्मनेपदानां टेरे" (अ० सू० ३।४।७९) इत्येवमादयः।

वृत्यर्थ—'अचः' यह निर्धारण में षष्ठी विभक्ति तथा जाति में एकवचन है। सन्निविष्ट=मिले हुए अचों का अन्तिम अच् जिसके आदि में होता है, उस शब्द रूप की टि संज्ञा होती है। यथा—अग्निचित् में 'इत्' भाग की, आताम्-आथम् में 'आम्' भाग की, पचेते पचेथे में 'ए' भाग की 'टि' संज्ञा है। टि संज्ञा के प्रदेश 'टित आत्मनेपदानां०' आदि सूत्र हैं।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥६५॥

धात्वादौ वर्णसमुदायेऽन्त्यादलः पूर्वो यो वर्णः सोऽलेवोपधासंज्ञो भवति। पच्, पठ् अकारः। भिद्, छिद्, इकारः। बुध्, युध्, उकारः। वृत्, वृध्, ऋकारः। अल इति किम्, शिष्टः, शिष्टवान्। समुदायात् पूर्वस्य मा भूत्। उपधाप्रदेशाः—"अत उपधाया" (अ० सू० ७।२।११६) इत्येवमादयः।

वृत्यर्थ—धात्वादि रूप वर्ण समुदाय में अन्तिम 'अल्' से पूर्व, जो वर्ण होता है वह 'अल्' ही उपधा संज्ञक होता है। यथा—पच्, पठ्, में पकारस्थ अकार। भिद्, छित् में इकार। बुध, युध में उकार। वृत्, वृध् में ऋकार। इनकी उपधा संज्ञा होती है। अल् से पूर्व की ही उपधा संज्ञा होगी, ऐसा इसलिए कहा है कि समुदाय से पूर्व की उपधा संज्ञा न हो। यथा—शिष्टः, शिष्टवान्, शकारकी उपधा संज्ञा नहीं होती क्योंकि यह समुदाय से पूर्व है। एक अल् से पूर्व नहीं।

व्याख्या—**शिष्टः शिष्टवान्**। शास्+क्त। शास इदङ्हलोः—शि स्+त। शासिवसिघसीनां च—शिष्+त। ष्टुनाष्टुः—शिष्टः। इसी प्रकार शास्+क्तवतु=शिष्टवान्।

यहाँ 'शास्' शब्द में शकार तो समुदाय से पूर्व है अतः उसकी उपधा संज्ञा नहीं हुई। आकार की उपधा संज्ञा हो गयी क्योंकि वह अन्तिम अल्—स् से पूर्व है। उपधा को ही यहाँ पर इत्व हुआ है। उपधा संज्ञा के सूत्र 'अत उपधाया' इत्यादि सूत्र हैं।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥६६॥

तस्मिन्निति सप्तम्यर्थनिर्देशे पूर्वस्यैव कार्यं भवति, नोत्तरस्य। 'इकोयणचि' (अ० सू० ६।१।७७) दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम्। निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम्। अग्निचिदत्रेति व्यवहितस्य मा भूत्।

वृत्यर्थ—तस्मिन् अर्थात् सप्तमी के अर्थ का निर्देश होने पर पूर्व को ही कार्य होता है, उत्तर को नहीं। यथा—'इकोयणचि' से दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम् यहाँ पर यणादेश हुआ है। निर्दिष्ट ग्रहण आनन्त्यर्थ के लिए है जिससे 'अग्निचित् अत्र, यहां पर यणादेश नहीं हुआ।

व्याख्या—किसी भी सूत्र में यदि कहीं पर सप्तमी विभक्ति का निर्देश

रहेगा तो वह सप्तमी विभक्ति जिस शब्द में है उससे पूर्व को कार्य होगा। यथा—'इको यण् अचि' में 'अचि' में सप्तमी विभक्ति है। इसका अर्थ हुआ कि 'अच्' से पूर्व को ही कार्य होगा, उत्तर को नहीं यथा दधि+उदकम् यहाँ पर सन्धि करनी है तो सन्देह होता है कि 'दधि' के इकार को कार्य हो या 'उदकम्' के उकार को क्योंकि ये दोनों ही 'इक्' हैं। तथा सूत्र में 'इक्' के स्थान पर कार्य होना कहा गया है। प्रकृत सूत्र सन्देह निवारण करता है कि जिसमें सप्तमी विभक्ति हो, उससे पूर्व को कार्य होगा। 'अचि' में सप्तमी विभक्ति है। अतः 'उ' अच् से पूर्व दधि के इकार को 'यण्' होकर 'दध्युदकम्' बनता है। इसी प्रकार मधु+इदम्—मध्विदम्। व्यवधान रहित पूर्व वर्ण को ही कार्य होता है, व्यवहित को नहीं यथा—अग्निचित्+अत्र यहाँ पर चकारस्थ इकार=इक् तथा अच्=अ के मध्य 'त्' का व्यवधान है। अतः 'इकोयणचि' से यणादेश नहीं होता।

तस्मादित्युत्तरस्य ॥६७॥

निर्दिष्टग्रहणमनुवर्त्तते। तस्मादिति पञ्चम्यर्थनिर्देश उत्तरस्यैव कार्यं भवति न पूर्वस्य। "तिङ्ङतिङः" (अ० सू० ८।१।२८) ओदनं पचति। इह न भवति। पचत्योदनमिति।

वृत्यर्थ—पूर्व सूत्र से निर्दिष्ट ग्रहण की अनुवृति आ रही है। 'तस्मात्' यह पञ्चमी के अर्थ का निर्देश है। पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट कार्य उत्तरवर्ती पद को ही होता है, पूर्व को नहीं। यथा—'ओदनं पचति' यहाँ पर 'तिङ्ङ-तिङः' सूत्र से अनुदात स्वर विहित है। 'अतिङ्' पद में पञ्चमी विभक्ति है। अतः अतिङन्त=ओदन पद से परे तिङ्=पचति को अनुदात्त स्वर होता है। 'पचत्योदनम्' पद में यह स्वर नहीं होता क्योंकि पचति+ओदनम् यहां पर तिङन्त पचति पूर्वपद है। अतिङन्त-ओदन शब्द उत्तर पद है। इस सूत्र का अन्य उदाहरण है—'ईदासः' सूत्र। यहां पर 'आसः' में पञ्चमी विभक्ति है। इसका अर्थ हुआ कि 'आस्' से उत्तर में कार्य होगा। यह सूत्र 'आस्' से उत्तर में ईकारादेश करता है। इसका उदाहरण आस्+शानच् अनुबन्ध लोप होकर आस्+आन। ईदासः—आस्+ई न=आसीन।

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥६८॥

शास्त्रे स्वमेव रूपं शब्दस्य ग्राह्यं बोध्यं प्रत्याय्यं भवति न बाह्योऽर्थ, शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा। शब्देनार्थावगतेरर्थे कार्यस्यासंभवात् तद्वाचिनां शब्दानां संप्रत्ययो मा भूदिति सूत्रमिदमारभ्यते। "अग्नेर्ढक्" (अ० सू० ४।२।३३) आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्। अग्निशब्दोऽग्निशब्दस्यैव ग्राहको भवति, न ज्वलनः, पावको धूमकेतुरिति, अतः स्वरूपं भवति। "उदश्वितोऽन्यतर-

स्याम्" (अ० सू० ४।२,१९) औदश्वितम् । औदश्वितकम् । तक्रमरिष्टं, कालेपं, दण्डाहतं, मथितमिति नातः प्रत्ययो भवति । अशब्दसंज्ञेति किम्, "दाघाध्वदाप" (अ० सू० १।१।२०) "तरप्तमपौ घः" (अ० सू० १।१।२२) घुग्रहणेषु घग्रहणेषु च संज्ञिनां ग्रहणं न संज्ञायाः । सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम् । सिन्निर्देशः कर्तव्यः । ततो वक्तव्यं तद्विशेषाणां ग्रहणं भवतीति । किं प्रयोजनम्, वृक्षाद्यर्थम् । "विभाषावृक्षमृगतृण" (अ० सू० २।४।१२) इति । प्लक्षन्यग्रोधाः । पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम् । पिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्य ग्रहणं भवति, चकारात् स्वस्य तद्विशेषाणां चेति । किं प्रयोजनम्, स्वाद्यर्थम् । स्वे पुषः, ३।४।४२ स्वपोषं पुष्टः, रैपोषम्, धनपोषम्, अश्वपोषम्, गोपोषम् । जित् पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् । जिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवतीति, न स्वरूपस्य, नापि तद्विशेषाणाम् । किं प्रयोजनम् । राजाद्यर्थम् । "सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा" (अ० सू० २।४।२३) इनसभम् ईश्वरसभम् । तस्यैव न भवति राजसभा । तद्विशेषाणां च न भवति, पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा । झित्तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् । झिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं तस्य च ग्रहणं भवति तद् विशेषाणां चेति । किं प्रयोजनम्, मत्स्याद्यर्थम् । पक्षिमत्स्यमृगार्थम् । "पक्षिमत्स्यमृगान्, हन्ति" (अ० सू० ४।४।४५) इति ठक् । पाक्षिकः, मात्स्यिकः । तद्विशेषाणाम्, शाकुनिकः । पर्यायाणां न भवति, अजिह्मान् हन्ति, अनिमिषान् हन्तीति । अस्येष्यते । मीनान् हन्तीति मैनिकः ।

वृत्यर्थ—शास्त्र में शब्द का अपना रूप ही ग्रहण करने योग्य, जानने योगय तथा विश्वास करने योग्य होता है, बाह्य अर्थ नहीं, शब्द संज्ञा को छोड़कर । शब्द से अर्थ जाना जाता है यथा गौ शब्द से गौ प्राणी । व्याकरण सम्बन्धी कार्य अर्थ=पदार्थ में नहीं हो सकते अतः उस अर्थ के वाचक अन्य शब्दों से कार्य न हो, इसलिए यह सूत्र प्रारम्भ किया जाता है, यथा—'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत' यहां पर 'अग्नि' शब्द से 'ढक्' प्रत्यय होकर 'आग्नेय' शब्द बना है । यहाँ पर अग्नि शब्द केवल अपना ही ग्राहक होता होता है, अग्नि के पर्यायवाची ज्वलन, पावक, धूमकेतु आदि अन्य शब्दों का नहीं । अतः इनसे 'ढक्' प्रत्यय नहीं होता । उदश्वितोऽन्यतरस्याम् सूत्र द्वारा उदश्वित् शब्द से 'ठक्' प्रत्यय होकर 'औदश्वितकम्' बनता है । यह 'ठक्' प्रत्यय विकल्प से होता है अतः एक पक्ष में 'अण्' होकर 'औदश्वितम्' भी बनता है । उदश्वित शब्द के पर्यायवाची तक्र-अरिष्ट-कालशेप-दण्डाहत-मथित आदि शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय नहीं होता । अशब्द संज्ञा इसलिए कहा है कि शब्द संज्ञा में स्वरूप का ग्रहण नहीं होता । यथा—'तरप्तमपौ घः'

'दाधाघ्वदाप्' इन सूत्रों में निर्दिष्ट 'घ' तथा 'घु' का स्वरूप ग्रहण न होकर इन संज्ञाओं के संज्ञी तरप्, तमप् प्रत्यय तथा दा-धा आदि धातुओं का ग्रहण होता है। यदि सूत्र में अशब्दसंज्ञा न कहते तो यहाँ भी 'घु' तथा 'घ' के स्वरूप का ग्रहण हुआ करता।

वार्त्तिक १—सित्, उसके विशेषों का भी प्रतिपादक होता है, वृक्षादि के लिए। वार्त्तिक का भाव यह है कि जहाँ विशेषों का ग्रहण इष्ट है, वहाँ सित् निर्देश करना चाहिए तब कहना चाहिए कि उससे विशेषों का भी ग्रहण होता है। वृक्षादिकों के लिए ऐसा कहना चाहिए। यथा—'विभाषा वृक्षमृगतृण०' द्वारा वृक्षादिकों का द्वन्द्व विकल्प से एकवत् होता है। इस वार्त्तिक द्वारा वृक्षादिकों के विशेषों का ग्रहण होने से प्लक्ष तथा न्यग्रोध का द्वन्द्व भी विकल्प से एकवत् होकर 'प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः दो रूप बनते हैं।

वार्त्तिक २—पित् का निर्देश पर्यायवचन में ग्रहण करने के लिए करना चाहिए स्वादियों के लिए। भाव यह है कि पित् का निर्देश करना चाहिए, उसके पश्चात् कहना चाहिए कि उससे पर्याय वचन का ग्रहण होता है। चकार से अपने रूप का और अपने विशेषों का भी ग्रहण करता है। स्वादियों के लिए इसका प्रयोजन है। यथा—'स्वेपुषः' सूत्र द्वारा 'स्व' शब्द उपपद में होने पर √पुष् से णमुल् प्रत्यय होकर 'स्वपोषम्' रूप बनता है। प्रकृत वार्त्तिक 'स्व' के पर्यायवाची रै, धन तथा विशेष रूप अश्व, गो शब्द उपपद में रहने पर भी √पुष् से णमुल् प्रत्यय होकर रैपोषम्, धनपोषम्, अश्वपोषम् तथा गोपोषम् रूप बन जाते हैं।

वार्त्तिक ३—जित् से निर्दिष्ट शब्द पर्याय वचन का ही ग्राहक होता है, राजा आदि के लिए। भाव है कि 'जित्' निर्देश करना चाहिए तथा यह कहना चाहिए कि यह अपने विशेषणों का ग्रहण करेगा। अपने स्वरूप तथा अपने विशेषणों का ग्रहण नहीं करेगा। इसका प्रयोजन राजा आदि हैं।—'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' सूत्र द्वारा सभान्त तत्पुरुष को नपुंसक लिङ्गता का विधान किया गया है। प्रकृत वार्त्तिक द्वारा राजा के पर्यायवाची 'इन' शब्द का ही ग्रहण होकर इन सभम् ईश्वर सभम्' रूप बनते हैं। राजा के स्वरूव तथा राजा के विशेषों का ग्रहण नहीं होता। जिससे राजसभा, पुष्पमित्रसभा, चन्द्रगुप्त-सभा रूप बनते हैं। यहाँ पर नपुंसक लिङ्गता नहीं हो पायी है।

वार्त्तिक ४.—झित् से निर्दिष्ट अपना तथा अपने विशेषों का ग्राहक होता है भाव है कि झित् निर्देश करना चाहिए। इसके पश्चात् कहना चाहिए कि झित् से निर्दिष्ट अपना तथा अपने विशेषों का ग्राहक होता है। मत्स्यादियों के लिए ऐसा कहना चाहिए। यथा—'पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ति' सूत्र द्वारा 'ठक्' प्रत्यय का विधान किया गया है। इससे पाक्षिक, मात्स्यिक रूप बनते

हैं तथा इनके विशेषों का ग्रहण होने से 'शाकुनिक' रूप भी बनता है। इनके पर्याय वाचियों का इनसे ग्रहण नहीं होता। अतः अजिह्मान् हन्ति, अनिमिषान् हन्ति' यहाँ पर 'ठक्' प्रत्यय नहीं होता। किन्तु 'मीन' शब्द से से 'ठक्' होकर मीनान् हन्ति 'मैनिक' रूप ही बनता है। यह पर्यायवाची का अकेला उदाहरण है।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥६९॥

परेण णकारेण प्रत्याहारग्रहणम्। अण् गृह्यमाण उदिच्च सवर्णानां ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य प्रत्ययं वर्जयित्वा। "आद्गुणः" (अ० सू० ६।१।८७) "अस्य च्वौ" (अ० सु० ७।४।५२) "यस्येति च" (अ० सू० "चुटू" (अ० सू० १।३।७) "लशक्वतद्धिते" (अ० सू० १।३।८) चवर्गट-वर्गयोः कवर्गस्य च ग्रहणं भवति। अप्रत्यय इति किम् "सनाशंसभिक्ष उः" (अ० सू० ३।२।१६८) "असांप्रतिके" (अ० सू० ५।३।९) दीर्घो न भवति।

वृत्त्यर्थ—पर णकार से प्रत्याहार का ग्रहण किया गया है। गृह्यमाण 'अण्' तथा 'उदित्' वर्ण सवर्ण का ग्राहक होता है तथा अपने रूप का भी, प्रत्यय को छोडकर। यथा—आद् गुणः, अस्य च्वौ, यस्येति च सूत्रों में भिन्न स्वर वाले, सानुनासिक निरनुनासिक तथा भिन्न काल वाले वर्णों का भी ग्रहण होता है। उदित् वर्ण भी अपने सवर्ण का ग्राहक होता है। यथा—'चुटू, लशक्वतद्धिते' सूत्रों में चवर्ग, टवर्ग तथा कवर्ग का ग्रहण होता है। प्रत्यय को छोड़कर इस लिए कहा है कि 'सनाशंसभिक्ष उः, अ साम्प्रतिके' सूत्रों में 'उ' तथा 'अ' प्रत्यय अपने सवर्णों के ग्राहक नहीं बनते।

व्याख्या– यह संज्ञा सूत्र है। परिभाषा सूत्र नहीं। प्रत्याहार सूत्रों में 'अ इ उ ण्' तथा 'लण्' सूत्रों में दोबार णकार का ग्रहण किया गया है। दोनों णकारों से 'अण्' प्रत्याहार बनता है। प्रस्तुत सूत्र में 'लण्' सूत्रस्थ णकार से बने प्रत्याहार का ग्रहण इष्ट है। इसका फल यह है कि 'आद् गुणः' 'अस्य च्वौ' तथा 'यस्येति च' सूत्रों में ह्रस्व आकार का निर्देश होने पर भी 'अण्' प्रत्याहार के अन्तर्गत होने के कारण आकार से दीर्घ प्लुतादिकों का भी बोध होता है। भिन्न स्वर अर्थात् उदात्त-अनुदात्त स्वरित, भिन्न काल अर्थात् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत, तथा सानुनासिक सभी प्रकार के 'अ' का ग्रहण होता है। उदाहरणार्थ 'आद्गुणः' से जैसे 'देव+इन्द्र' में गुण सन्धि होकर देवेन्द्र बनता है वैसे ही 'खट्वा+इन्द्र' में भी सन्धि होकर 'खट्वेन्द्र' बनता है। 'उदित्' से तात्पर्य है कि जिसका 'उ' इत् संज्ञक हो गया हो। यथा—

कु, चु, टु, तु आदि। 'चुटू' सूत्र में 'च्' तथा 'ट्' उदित हैं। 'लशक्वतद्धिते' में 'क्' उदित है। इसलिए 'कु' से कवर्ग, 'चु' से चवर्ग तथा 'टु' से टवर्ग का ग्रहण होता है। प्रत्यय अपने सवर्णों का ग्रहण नहीं कराते हैं भले ही वे 'अण्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आयें अथवा उदित हों। इसका फल यह है कि 'सनासभिक्ष उः' तथा 'अ साम्प्रतिके' सूत्रों में 'उ' तथा 'अ' प्रत्यय अपने सवर्णी का ग्रहण नहीं कराते। 'मुमुक्षु' आदि रूप ही बनते हैं 'मुमुक्षू' आदि नहीं।

तपरस्तत्कालस्य ॥७०॥

तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः, तादपि परस्तपरः। तपरो वर्णस्तत्कालस्यात्मना तुल्यकालस्य गुणान्तरयुक्तस्य सवर्णस्य ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य। विध्यर्थमिदम्। अणिति नानुवर्तते। अणामन्येषां च तपराणाम् इदमेव ग्रहणकशास्त्रम्। 'अतोभिस ऐस्' (अ० सू० ७।१।८) इत्येवमादिषु पूर्वग्रहणकशास्त्रं न प्रवर्तत एव। अतपर अणस्तस्यावकाशः। किमुदाहरणम्? 'अतो भिस ऐस्' (अ० सू० ७।१।८) वृक्षैः, प्लक्षैः। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (अ० सू० ६।४।४१) अब्जाः, गाजाः। तत्कालस्येति किम्? खट्वाभिः मालाभिः।

वृत्त्यर्थ—जिससे 'त' परे होता है वह तपर कहलाता है। 'त' से परे जो हो वह भी तपर कहलाता है। तपर वर्ण अपने तत्काल का अर्थात् अपने तुल्य काल वाले तथा भिन्न गुणों से युक्त सवर्ण का ग्राहक होता है, तथा अपने रूप का भी। यह नियम विधिसूत्रों के लिए है। यहाँ पर 'अण्' की अनुवृत्ति नहीं आ रही है। 'अण' तथा अन्य तपरों का ग्रहण कराने वाला यही शास्त्र हैं। 'अतो भिस ऐस्' इत्यादि सूत्रों मे पूर्वसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि अतपर 'अण' उसका अवकाश हैं। अर्थात् पूर्वसूत्र 'अणुदित्०' में अतपर 'अण्' का ग्रहण किया गया है। इस सूत्र के उदाहरण हैं—अतो भिस ऐस्—वृक्षैः, प्लक्षैः। विड्वनोरनुनासिकस्यात्—अब्जाः गोजाः। तत्काल का ग्रहण इसलिए किया है कि 'खट्वाभिः' 'मालाभिः' में 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं होता।

व्याख्या—जो 'त' से परे है या 'त' जिससे परे है, ऐसा वर्ण तपर कहलाता है। तपर वर्ण समानकालिक सवर्णों का बोध कराता हैं, भिन्न कालिक सवर्णों का नहीं। यथा 'अतो भिस ऐस्' में अकार तपर है तो वह समानकालिक सवर्णों का बोध करायेगा। अर्थात् सूत्र में एक मात्रिक ह्रस्व है तो वह एकमात्रिक सवर्णों=उदात्त, अनुदात्त स्वरित, सानुनासिक, निरनुनासिकों का ही बोध करायेगा, दीर्घ सवर्णों या प्लुत सवर्णों का नहीं। इसलिए मालाभिः आदि में 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं होता। इसी प्रकार 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' से 'विट्' तथा 'वन्' प्रत्यय परे रहने पर अनुनासिक को

'आ' आदेश होता है। 'अ' नहीं क्योंकि सूत्र में 'आत्'=आकार तपर है अतः वह ह्रस्व अकार का ग्रहण नहीं कर सकता।

अब्जा—अप्सु जायत इति।

जनसनखनक्रमगमो० जन्+विट्
विट्वनोरनुनासिक० ज अ+विट्
उपदेशेऽज०, हलन्त्यम्—ज+आ+व्
वेरपृक्तस्य— ज आ
अकः सवर्णे दीर्घः जा
जा+सु=जाः। अप्+जाः=अब्जाः

सूत्र में 'तत्काल' का ग्रहण इसलिए किया गया है कि तपर वर्ण समान कालिक सवर्णों का ही ग्रहण कराये। भिन्न कालिक सवर्णों का नहीं। 'अ' तथा 'आ' भिन्न कालिक है अतः 'मालाभिः' आदि में 'अतो भिस ऐस्' से आदेश नहीं होता।

आदिरन्त्येन सहेता ॥७१॥

आदिरन्त्येनेत्संज्ञकेन सह गृह्यमाणस्तन्मध्यपतितानां वर्णानां ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य। अण, अक्, अच्, हल्, सुप्, तिङ्। अन्त्येनेति किम्; सुडिति तृतीयैकवचनेन टा इत्यनेन ग्रहणं मा भूत्।

वृत्त्यर्थ—आदि वर्ण अन्त्य इत् संज्ञक वर्ण के साथ ग्रहण किया जाता हुआ बीच के वर्णों का तथा अपने स्वरूप का भी ग्राहक होता है। यथा—अण्, अक्, हल्, सुप्, तिङ् आदि प्रत्याहार। 'अ इ उ ण्' का आदि अकार अन्तिम णकार के साथ मिल कर 'अण्' प्रत्याहार बनाता है जिससे 'अ इ उ' इन तीन वर्णों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहार बनते हैं। सूत्र में अन्त्येन इसलिए कहा है कि तृतीया एक वचन के 'टा' से ग्रहण न हो। 'टा' का 'ट्' आदि है, अन्त्य नहीं। अतः इसके साथ प्रत्याहार न बन कर, 'सु-औ-जस्' आदि २१ प्रत्ययों में सु से लेकर 'औट्' के टकार तक 'सुट्' प्रत्याहार बनता है।

येन विधिस्तदन्तस्य ॥७२॥

येन विशेषणेन विधिर्विधीयते स तदन्तस्य तमान्तस्य समुदायस्य ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य। "एरच्" (अ० सू० ३।३।५६) इवर्णान्तादच्प्रत्ययो भवति, चयः, जयः, अयः। "ओरावश्यके" (अ० सू० ३।१।१सु६) उवर्णान्ताद् ण्यद्भवति। अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्। समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषेधो वक्तव्यः। द्वितीयान्तं श्रितादिभिः सह समस्यते, कष्टश्रितः। इह मा भूत् कष्टं परमश्रित इति। प्रत्ययविधौ, 'नडादिभ्यः फक्" (अ० सू० ४।१।९९)। नडस्यापत्यं नाडायनः इह मा भूत्

सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः । किमविशेषेण ? नेत्याह । उगिद्वर्णग्रहणवर्जमिति वाच्यम्, उगितश्चेति ङीप् प्रत्ययस्तदन्तादपि भवति भवती, अतिभवती । वर्णग्रहणम् "अत इञ्" (अ० सू० ४।१।९५) दाक्षिः, प्लाक्षिः यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे अल्टग्रहणेषु यस्मिन् विधिस्तदादाविति वक्तव्यम् । अचिश्नु धातु भ्रुवां य्वोरियङुवङौ (अ० सू०) इति । श्रियः, भ्रुवः ।

वृत्त्यर्थ—जिस विशेषण से विधि का विधान किया जाता है वह तदन्त का, अर्थात् वह है अन्त में जिसके, ऐसे समुदाय का ग्राहक होता है तथा अपने रूप का भी । यथा—'एरच्' यहाँ 'इ' से 'अच्' प्रत्यय कहा है किन्तु 'इ' से इवर्णान्त का भी ग्रहण होकर—चि, जि तथा इ धातुओं से भी 'अच्' प्रत्यय होता है । इसी प्रकार ओरावश्यके सूत्र से 'उ' से 'ण्यत्' प्रत्यय कहा है किन्तु यह उवर्णान्त लू, पू धातुओं से भी हो जाता है । जिससे 'अवश्यलाव्यम्' 'अवश्य पाव्यम्' रूप बनते हैं । वार्त्तिक १—समास तथा प्रत्यय विधि में तदन्त विधि का प्रतिषेध कहना चाहिए । यथा—समासविधि—द्वितीयान्त पदों का श्रितादि शब्दों के साथ समास होता है—कष्टंश्रितः—कष्टश्रितः । कष्टं परं श्रितः यहाँ पर समास नहीं होता क्योंकि यहाँ पर श्रित शब्द नहीं अपितु परं श्रित शब्द है । प्रत्ययविधि—नडादिभ्यः फक् सूत्र द्वारा 'नड' शब्द से 'फक्' प्रत्यय होकर नडस्यापत्यं नाडायनः बनता है । किन्तु सूत्रनडस्यापत्यं यहाँ पर सूत्रनड शब्द से 'फक्' न होकर 'इञ्' प्रत्यय होता है जिससे सौत्रनाडि रूप बनता है ।

वार्त्तिक २—समास तथा प्रत्यय विधि में अविशेष अर्थात् सामान्य रूप से तदन्त विधि का प्रतिषेध नहीं होता अपितु उगित तथा वर्ण ग्रहण को छोड़कर ऐसा कहना चाहिए । अर्थात् 'उगितश्च' सूत्र द्वारा विहित 'ङीप्' प्रत्यय उगिदन्त शब्द से भी हो जाता है—भवती, अतिभवती । वर्णग्रहण—'अत इञ्' सूत्र द्वारा विहित प्रत्यय अकारान्त दक्ष, प्लक्ष शब्दों से भी होकर दाक्षि, प्लाक्षि रूप बनते हैं ।

वार्त्तिक ३—जब 'अल् का ग्रहण किया जाता तो जिसमें विधि होती है, वह उसके आदि में होती है । यथा—'अचि श्नु धातु०' सूत्र द्वारा 'श्री' शब्द से 'अच्' परे रहने पर 'इयङ्' का विधान किया है जिससे श्री+औ=श्रियौ रूप बन जाता है तदादि विधि मानकर श्री+जस् (अस्) यहाँ पर भी इयङ् हो जाता है । जिससे श्रियः रूप बनता है । 'अचि' कहने से तदादि विधि द्वारा न केवल 'अच्' का ग्रहण होता है अपितु अजादि का ग्रहण भी होता है अर्थात् अजादि प्रत्यय परे रहने पर भी इयङ् उवङ् आदेश हो जाते हैं ।

वृद्धिर्यस्याचामदिस्तद् वृद्धम् ॥७३॥

यस्येति समुदाय उच्यते । अचां मध्ये यस्य वृद्धिसंज्ञक आदिभूतस्तच्छ-ब्दरूपं वृद्धसंज्ञं भवति । अचामिति जातौ बहुवचनम् । शालीयः, मालीयः, औपगवीयः कापवीयः आदिरिति किम् ? सभासन्नयने भव साभासन्नयनः । वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या देवदत्तीयाः, । गोत्रान्तादसमस्तवत् प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम् धृतप्रधानो रौढिः—धृतरौढिः, तस्य छात्रा धृतरौढीयाः । ओदनप्रधानः पाणिनिरोदनपाणिनिस्तस्य छात्रा ओदनपाणिनीयाः, वृद्धाम्भीयाः, वृद्धकाश्यपीयाः । जिह्वाकात्यहरितकात्यवर्जम् जैह्वाकाताः, हारितकाताः ।

वृत्यर्थ—'यस्य' पद से समुदाय का ग्रहण होता है । जिस समुदाय के अचों में आदि 'अच्' वृद्धि से युक्त होता है, वह समुदाय शब्द वृद्धसंज्ञक होता है 'अचाम्' यह जाति में बहुवचन है । उदा०—शालीयः, मालीय, औपगनीयः, कापटवीयः, यहाँ पर शाला, माला, औपगु तथा कापटु शब्दों में आदि अच् (आ) वृद्धि संज्ञक है अतः इनकी वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय होकर 'छ' को आयनेयीनीयिय०' सूत्र से 'ईय्' आदेश होकर उक्त रूप बनते हैं ।

सूत्र में 'आदि' पद का ग्रहण इसलिए किया है कि यदि वृद्धि संज्ञक वर्ण मध्य या अन्त में हो तो वृद्ध संज्ञा नहीं होगी । यथा—'सभासन्नयने भव साभासन्नयनः' यहाँ पर 'भा' का 'आ' वृद्धि संज्ञक तो है किन्तु वह आदि में न होकर मध्य में है । फलतः वृद्ध संज्ञा न होने से 'छ' प्रत्यय न होकर 'अण्' होता है ।

वार्त्तिक १—नामधेय की विकल्प से वृद्ध संज्ञा होती है । यथा—देव-दत्तीयाः, दैवदत्त': । यहाँ 'छ' तथा 'अण्' प्रत्यय हुए हैं ।

वार्त्तिक २—समास रहित के समान ही समास होने पर भी गोत्र प्रत्ययान्त से 'छ' प्रत्यय होता है, ऐसा कहना चाहिए । अर्थात् समास रहित केवल गोत्र प्रत्ययान्त से जो 'छ' प्रत्यय प्राप्त है वह समास होने पर भी हो जाए । यथा—घृतप्रधानो रौढिः—घृतरौढिः । उसके छात्र 'घृतरौढीयाः' कहलायेंगे । इसी प्रकार ओदनप्रधानः पाणिनिः—ओदनपाणिनिः । उसके छात्र ओदनपाणिनीयाः कहलायेंगे । इसी प्रकार वृद्धाम्भीया, वृद्धकाश्यपीया रूप बनेंगे । यहां पर समास रहित अवस्था में रौढि, पाणिनि, काश्यप्, आम्भ-शब्द आदि में वृद्धि होने के कारण वृद्ध संज्ञक थे । अतः इनसे 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय प्राप्त था किन्तु घृतरौढि, ओदनपाणिनि आदि समास होने पर इन शब्दों के आदि में वृद्धि न होने से 'छ' प्राप्त नहीं था । इस वार्त्तिक द्वारा समास होने पर भी इनसे 'छ' का विधान किया है ।

वार्त्तिक २—जिह्वाकात्य तथा हरितकात्य के साथ 'छ' प्रत्यय नहीं होता अपितु 'अण्' होकर जैह्वाकाताः, हारितकाताः रूप बनते हैं।

त्यदादीनि च ॥७४॥

यस्याचामादिग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तते। इह तु न सम्बध्यते। त्यदादीनि शब्दरूपाणि वृद्धसंज्ञानि भवन्ति। त्यदीयम्, तदीयम्, एतदीयम्, इदमीयम्, अदसीयम्, त्वदीयम्, त्वादायनिः, मदीयम्, मादायनिः, भवदीयम्, किमीयम्।

वृत्त्यर्थ—यस्य अचाम् आदि की अनुवृत्ति उत्तरसूत्र के लिए यहाँ पर भी आ रही है। त्यदादि शब्द रूप वृद्धसंज्ञक होते हैं। यथा—त्यदीयम्, तदीयम्, एतदीयम्, इदमीयम्, अदसीयम्, त्वदीयम्, त्वादायनिः, मदीयम्, मादायनिः, भवदीयम्, किमीयम्। यहाँ सर्वत्र वृद्ध संज्ञा होकर 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय के द्वारा त्यदीयम् आदि रूप बने हैं। किन्तु वृद्ध संज्ञा होने से 'उदिचां वृद्धादगोत्रात्॰ सूत्र से 'फिञ्' प्रत्यय भी होता है। अतः 'फ' का आयन् आदेश होकर तथा आदिवृद्धि होकर त्वत्+फिञ्=त्वत्+आयन् +इ=त्वादायनिः, मादायनि रूप भी बनते हैं।

एङ् प्राचां देशे ॥७५॥

यस्याचामादिग्रहणमनुवर्त्तते। एङ् यस्याचामादिस्तत्प्राचां देशाभिधाने वृद्धसंज्ञं भवति। एणीपचनीयः, भोजकटीयः, गोनर्दीयः। एङिति किम्, आहिच्छत्रः, कान्यकुब्जः। प्राचामिति किम्, देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामः, तत्र भवो दैवदत्तः। देश इति किम्, गोमत्यां भवा मत्स्या गौमताः।

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥

वृत्त्यर्थ—यस्य, अचाम्, आदि की अनुवृत्ति यहाँ पर आ रही है। जिस समुदाय के अचों का आदि 'अच्' 'एङ' हो वह प्राचीनों के देश की संज्ञा बन कर वृद्धसंज्ञक होता है। यथा—एणीपचनीयः, भोजकटीयः, गोनर्दीयः। एणीपचन, भोजकट तथा गोनर्द प्राक् देश के नाम हैं अतः इनकी वृद्ध संज्ञा होकर 'छ' प्रत्यय हो जाता है। 'एङ्' इस लिए कहा है कि आहिच्छत्र तथा कान्यकुब्ज में आदि में 'एङ्' नहीं है। अतः 'अण्' होता है। प्राचाम् इसलिए कहा है कि देवदत्तो नाम वाहिकेषु ग्रामः, तत्र भवो दैवदत्तः। देवदत्त प्राक्देश का नहीं अपितु वाहीकों में एक ग्राम है। अतः वृद्ध संज्ञा न होने से यहाँ 'छ' न होकर 'अण्' होता है। देश इसलिए कहा है कि गोमत्यां भवा मत्स्या गोमताः। गौमती नदी है, देश नहीं। अतः इसकी भी वृद्ध संज्ञा न

होने से 'छ' नहीं होता। श्लोकार्थ—जिस प्रकार हंस दूध तथा पानी को पृथक् पृथक् कर देता है। उसी प्रकार शरावती नदी पूर्व तथा उत्तर देश का विभाग कर देती है। यह नदी शब्द सिद्धि के लिए हमारी रक्षा करें। यह श्लोक प्राक् देश तथा उदङ्देश की व्यवस्था करने वाला है।

विशेष—शरावती एक नदी है। इसके पूर्व में व्यवस्थित देश प्राक् देश कहलाता है तथा उत्तर में व्यवस्थित देश उदङ्देश कहलाता है। डा० प्रभु दयाल अग्निहोत्री शरावती को इरावती नदी मानते हैं जबकि पं० बलदेव प्रसाद के अनुसार शरावती सरस्वती तथा यमुना के पास बहने वाली कोई नदी है। यहाँ पर यह अवधेय है कि काशिकाकार ने 'प्राचाम्' को देश का विशेषण माना है। भाष्य में इसे आचार्यों के निर्देशार्थ माना गया है। काशिका के उत्तरवर्ती अभयनन्दी, पुरुषोत्तमदेव भट्टोजि दीक्षित आदि वैयाकरणों ने भी काशिका के पक्ष का अनुसरण किया है।
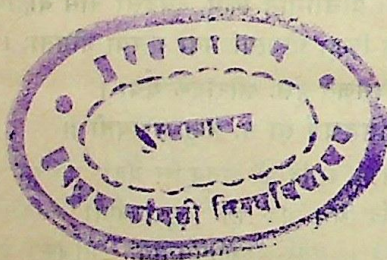
मुख्य वितरक :—

संकल्प अकादमी

ए/एम-३८ शालीमार बाग,
दिल्ली-११००४२